शहर-ए-लखनऊ

पवन कुमार सिंह

1990

आत्माराम एण्ड संस

दिल्ली लखनऊ

SHAHAR-E-LAKHNAU

by

Pavan Kumar Singh

प्रकाशक

आत्माराम एण्ड संस

कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा

17, अशोक मार्ग, लखनऊ

संस्करण : 1990

ISBN : 81-7043-169-7

मूल्य : रु० 90.00

मुखपृष्ठ : पर्यटन विभाग के पैम्फलेट पर आधारित।

मुद्रक

रुचिका प्रिण्टर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अमृतलाल नागर
AMRITLAL NAGAR

दूरभाष : ८२३५० Phone : 82350
चौक, लखनऊ-२२६ ००३
Chowk, Lucknow-226 003

10.8.'84

दिल्ली आगरा और लखनऊ उत्तर भारत की तीन बहुचर्चित ऐतिहासिक महानगरियाँ रही हैं। इनके संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका और अब भी लिखा जा रहा है। हरि अनन्ता हरिकथा अनन्ता। श्री पवनकुमार सिंह की प्रस्तुत पुस्तक उसी अनन्तता की एक नई कड़ी है। अंग्रेजी और उर्दू की किताबों में छुपी बहुत सी सूचनायें हिन्दी के पाठकों को भी सरल सुलभ हो जाती हैं। यही इसका लाभ है। आशा है पाठक लेखक के इस श्रम की सराहना करेंगे।

अमृतलाल नागर

प्राक्कथन

पिछले कई वर्षों से मैं लगातार महसूस कर रहा था कि लखनऊ के इतिहास पर ऐसी कोई संक्षिप्त पुस्तक नहीं है जिसमें एक साथ अवध के नवाबों, 1857 की जंगे आजादी, जंगे आजादी के रण बाँकुरे, ऐतिहासिक इमारतों, नवाबी शौक, संगीत, कला आदि का एक ही पुस्तक में वर्णन मिलता हो। हमारी यह कोशिश रही है कि अध्ययन अनुभव और बातचीत के प्रामाणिक आधार को 'शहर-ए-लखनऊ' में समेटा जाये।

'शहर-ए-लखनऊ' में मैंने उन सारे तथ्यों को दर्ज किया है जो अब तक प्रकाशित प्रामाणिक ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलता है। ऐतिहासिक इमारतों को मैंने करीब से देखा है और कई नये तथ्य भी तलाशे हैं। ऐतिहासिक इमारतों का प्राचीन से लेकर वर्तमान स्थिति तक का जायज़ा इस पुस्तक में मिलेगा।

पुस्तक में जहाँ तक भाषा का प्रश्न है मेरी यह पूरी कोशिश रही है कि भाषा कठिन न हो, उर्दू के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है जो आम बोलचाल की भाषा में बोले जाते हैं। किताब के 'खण्ड दो' की यह विशेषता है कि इसमें ऐतिहासिक स्थलों व इमारतों का क्रमबद्ध ढंग से जिक्र किया गया है। यदि इन ऐतिहासिक स्थलों व इमारतों को कोई भी देखना चाहे तो वह एक सिरे से शुरू होकर एक के बाद एक ऐतिहासिक स्थलों व इमारतों को देख सकता है।

अन्त में मैं अपने सहयोगियों का जिक्र जरूर करना चाहूँगा, जिन्होंने समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन किया और हमें प्रोत्साहित करते रहे। यदि उनका यह सहयोग मुझे न मिलता तो शायद मेरे लिए यह पुस्तक लिखना कठिन ही नहीं असम्भव होता।

मैं श्रद्धेय अमृतलाल नागर, श्री राजेश 'विद्रोही', श्री विजयवीर सहाय, श्री विजय राय, श्री मुकेश शारदा एवं श्री हरिमोहन श्रीवास्तव का हृदय से आभारी हूँ जिनके विचारों एवं अनुभवों का लाभ उठाते हुए मैंने इस

पुस्तक को लिखने में कामयाबी हासिल की। पुस्तक की पाण्डुलिपि लिखने में, अनुवादित एवं सन्दर्भ सामग्री के लिए मो० इखलाक अहमद, कु० कल्पना श्रीवास्तव, गिरिराज कुमार, श्री अरविन्द मिश्र, कु० अर्चना श्रीवास्तव एवं श्री मुरारी लाल शर्मा के निरन्तर सहयोग के लिए सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

मैं उन सभी लेखकों का भी कृतज्ञ हूँ जिनकी पुस्तकों से मैंने मदद हासिल की है। अतः वे सभी लेखक मेरे लिए सौभाग्य एवं जीवन की सार्थकता के प्रतीक हैं।

अन्त में इस आशा के साथ कि पुस्तक 'शहर-ए-लखनऊ' लखनऊ के इतिहास के बारे में जिज्ञासु लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

501/88, केशरीपुर, डालीगंज,
लखनऊ

पवन कुमार सिंह

चित्र-सूची

चित्र संख्या	शीर्षक
1.	लक्ष्मण टीले वाली मस्जिद
2.	आसफी मस्जिद
3.	सतखण्डा महल
4.	कोठी रोशनउद्दौला
5.	कोठी हयातबख्श या बैंक हाउस
6.	इमामबाड़ा गुफरान माअब
7.	बड़ा इमामबाड़ा या आसफी इमामबाड़ा
8.	इमामबाड़ा जैनुल आबदीन
9.	इमामबाड़ा मियाँ तहसीन
10.	इमामबाड़ा हुसैनाबाद
11.	लख्खी दरवाजा
12.	रूमी दरवाजा
13.	काज़मैन

14. कदम रसूल

15. हुसैनाबाद घण्टाघर

16. ला-मार्टीनियर टावर

17. सुरंग का तहखाना (लाल बाग गर्ल्स कालेज)

18. बहादुरशाहज़फर द्वारा नवाब बिरजीस कदर को भेजी गयी शाही मुहर

19. ग्लोब

20. तवायफ जद्दनबाई

21. तवायफ सलमा एक मुजरे में

22. 'साइमन गो बैक' पतंग के साथ श्री वी० बी० श्रीवास्तव

विषय-सूची

खण्ड एक

1. लखनऊ 17

2. नवाबीन-ए-अवध 23

[सैयद मुहम्मद अमी उर्फ सआदत खाँ 'बुरहानुलमुल्क' नवाब अलमंसूर खाँ, सफदरजंग, शुजाउद्दौला, आसफुद्दौला, मिर्जा अली उर्फ वजीर अली, नवाब सआदत अली खाँ, गाजीउद्दीन हैदर, नसीरुद्दीन हैदर, मुहम्मद अली शाह, अमजद अली शाह, वाजिद अली शाह, बिरजीस कदर]

3. 1857 की जंगे आज़ादी और लखनऊ 38

4. जंगे आजादी के रण बांकुरे 46

[अजीम उल्ला खाँ, मौलवी अहमद उल्ला शाह, बेगम हजरत महल, राजा दुर्ग विजय सिंह, शेख खादिम अली, अली मोहम्मद खाँ, खान अली खाँ, मुहम्मद अहमद खाँ, राजा हनुमन्त सिंह, जनरल बख्त अहमद खाँ, राणा बेनीमाधव सिंह और नसरत जंग]

खण्ड दो

5. मस्जिदें 57

[लक्ष्मण टीले वाली मस्जिद, आसफी मस्जिद, जामा मस्जिद, मस्जिद मियाँ अल्मास अली खाँ, तहसीन मस्जिद, और सराय तहसीन, छोटे तहसीन की मस्जिद, मस्जिद मलका किश्वर, पण्डाइन की मस्जिद, मस्जिद धनियाँ महरी]

6. **महल** 64

[मच्छी भवन, फिरंगी महल, पतखण्डा महल, परीखाना पैलेस, छतर मंजिल, मोती महल, खुर्शीद मंजिल]

7. **कोठी** 72

[कोठी बीबीपुर, कोठी-ला मार्टीनियर, रेजीडेंसी, कैसर पसन्द या कोठी रोशनउद्दौला, चौलखी कोठी, दिल आराम कोठी, नूरबख्श कोठी, बेगम कोठी, तारावाली कोठी, कोठी हयात बख्श]

8. **इमामबाड़ा** 81

[इमामबाड़ा आगा बाकर, इमामबाड़ा गुफरान माअब, बड़ा इमामबाड़ा या आसफी इमामबाड़ा एवं बावली, काला इमामबाड़ा, इमामबाड़ा जैनुल आबदीन, इमामबाड़ा झाऊलाल, इमामबाड़ा मियाँ तहसीन, इमामबाड़ा हुसैनाबाद, इमामबाड़ा बेगम मलका जमानी, इमामबाड़ा शाहनजफ]

9. **बारादरी** 90

[लाल बारादरी, बारादरी कैसरबाग, चाँदी वाली बारादरी, बारादरी नगीने वाली]

10. **तोरण** 95

[लख्खी दरवाजा, रूमी दरवाजा, अकबरी और गोल दरवाजा]

11. **बाग** 99

[मूसा बाग, विलायती बाग, आलमबाग, पसन्द बाग, बनारसी बाग, सिकन्दर बाग, बादशाह बाग, दिलकुशा]

12. **मकबरा** 106

[नादान महल, मकबरा अलीशाह कुली खाँ, मकबरा सआदत अली खाँ और खुर्शीद जादी, मकबरा अमजद अली शाह या सिबतैनाबाद इमामबाड़ा एवं हजरतगंज]

13. **करबला** 111

[करबला ऐशबाग, दरगाह हजरत अब्बास, काजमैन कर्बला दयानतउद्दौला, कदमरसूल, करबला नसीरुद्दीन, करबला नवाब मलका आफाक]

14. पुल 116
[ब्रूस ब्रिज, लोहे वाला पुल, पक्का पुल]

15. लखनऊ की अन्य ऐतिहासिक इमारतें 118
[हुसैनाबाद घण्टाघर, छतरी बेगम हजरत महल, कैनिंग कालेज, ईशाबेला थार्बेन कालेज, कौंसिल हाउस, दारुल शफा, राज्य संग्रहालय, स्टेशन चारबाग]

खण्ड तीन

16. अदब, तहजीब और आपसी भाई चारे की मिसाल है लखनऊ 127

17. मुर्गबाजी 130

18. कनकौवेबाजी 132

19. कबूतरबाजी 134

20. बटेर एवं तीतरबाजी 136

21. चिकन व जामदानी कला 137

22. लखनऊ का पहनावा 138

23. शौक पान का 140

24. लखनवी खान-पान 143

25. संगीत 146

26. आप फरमाते हैं— 148
[लखनऊ के बारे में इनके विचार और कुछ यादें—मुंशी प्रेमचन्द, जोश मलिहाबादी, फिराक गोरखपुरी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय', पं० श्री नारायण चतुर्वेदी, विलियम हार्वर्ड रसेल, सरदार पटेल, महात्मा गाँधी, शिवानी, भगवतीचरण वर्मा, पं० कमलापति त्रिपाठी, स्व० श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्री अमृतलाल नागर]

27. सहायक पुस्तकों की सूची 152

खण्ड एक

लखनऊ

प्राचीन समय में लखनऊ 'कोसल' 'महाजनपद' के विशाल साम्राज्य का एक अंग था जिसकी राजधानी अयोध्या थी। एक लम्बे अरसे तक यहाँ सूर्यवंशीय राजाओं का शासन रहा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के पिता महाराज दशरथ 56वें सूर्यवंशी शासक थे। इस वंश के अन्तिम एवं 113वें शासक महाराज सुमित्र हुए।

छठी शताब्दी में हिन्दोस्तान 16 महाजनपदों में बँटा था। इन जनपदों में कोसल जनपद काफी सशक्त और समृद्धशाली माना जाता था। सरयू नदी इस जनपद को दो भागों में विभक्त करती थी। उत्तरी कोसल और दक्षिणी कोसल। ज्यों-ज्यों मगध राज्य का विस्तार होता गया त्यों-त्यों कोसल राज्य का पतन होता गया। 'भरवंशीय' शासकों ने भी अवध के भू-भाग पर शासन किया। इसके प्रमाण भी खुदाई के दौरान मिले हैं।

सातवीं शताब्दी में महाराजा हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य में भी अवध का एक बड़ा भाग शामिल था। नवीं और दसवीं शताब्दी में गुर्जर तथा प्रतिहार वंशीय शासकों ने यहाँ शासन किया। ग्यारहवीं शताब्दी से मुगलों का अवध में प्रवेश होना शुरू हो गया। 1031 ई० और 1033 ई० में महमूद गज़नवी तथा तुर्की सुलतान के भतीजे सैय्यद सालार मसऊद 'गाज़ी' ने अवध पर आक्रमण किया।

'मिरात-मसऊदी' के अनुसार सैय्यद सालार मसऊद ने अवध की राजधानी बाराबंकी के करीब ग्राम सतरिख को बनाया। सन् 1847-48 में लखनऊ रेजि-डेण्ट के सहायक मेजर बर्ड ने अपनी किताब में वाल्मीकि कृत रामायण का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अवध की महत्ता पर प्रकाश डाला है। बर्ड के अनुसार सन् 1855 ई० में नवाब बादशाहों के अधीन अवध का 24,000 वर्ग मील क्षेत्र था अवध की उस समय कुल जनसंख्या तकरीबन 50,00,000 थी। अब एक नज़र लखनऊ के इतिहास पर भी डाल ली जाये। लक्ष्मणपुर से लखनावती और कब लखनऊ नाम हासिल हुआ इस शहर को, इस बारे में कोई सही जानकारी

हासिल नहीं होती है। ऐसा कहा जाता है कि रामचन्द्र जी जब लंका पर विजय-श्री हासिल कर पुनः अयोध्या लौट कर आये तो लखनऊ उन्होंने जागीर स्वरूप लक्ष्मण जी को प्रदान कर दिया। लक्ष्मण के निवास से गोमती नदी के तट व आस-पास के क्षेत्रों में एक बस्ती आबाद हो गयी जिसका नाम 'लक्ष्मणपुर' पड़ा। इस बस्ती का केन्द्र 'लक्ष्मण टीला' था। ऐसा कहा जाता है कि इस टीले पर एक बहुत ही गहरा कुआँ था जिसका सम्बन्ध पृथ्वी को अपने फन पर उठाये 'शेषनाग' से था। इस कारण यह कुआँ बड़ा ही पवित्र माना जाता था।

प्राचीन समय में लखनऊ एक पवित्र तीर्थ स्थल के रूप में विख्यात था। गोमती नदी 'आदि गंगा' के नाम से जानी जाती थी और लखनऊ 'छोटी काशी'। ऐसा भी कहा जाता है कि महाराजा युधिष्ठिर के पोते राजा जनमेजय ने लक्ष्मण टीले के आस-पास का काफी बड़ा इलाका तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों को सौंपा था। इन्होंने यहाँ जगह-जगह अनेक आश्रम बनाए। ऐसे अनेक प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि 1000 ई० पूर्व यहाँ दूर-दूर से तीर्थ यात्री आते थे। गोमती नदी के किनारे ही पश्चिमी क्षत्र में ऋषि कौण्डिन्य का आश्रम था। यह स्थल आज कुड़िया घाट के नाम से जाना जाता है।

जब लखनऊ के धार्मिक महत्व की चर्चा चल रही है तो सूर्यकुण्ड का जिक्र करना बेजा नहीं होगा। यह तो सर्वविदित है कि सूर्यवंशीय राजाओं ने एक लम्बे अरसे तक उत्तर भारत में शासन किया। अपने शासन काल के दौरान अयोध्या, बहराइच, लखनऊ, सीतापुर आदि जिलों में तमाम सूर्यकुण्ड बनवाये। किसी ज़माने में लखनऊ का सूर्यकुण्ड भी पावन तीर्थ स्थल रहा। आइने-अकबरी में इस सूरज-कुण्ड के धार्मिक महत्व के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। इस कुण्ड के चारों ओर एक विशाल मेला लगता था। लोग दूर-दूर से इस मेले में आते और पवित्र कुण्ड में स्नान किये बिना न जाते। इसके जल में खड़े होकर लोग मनौतियाँ मानते—पूरी होने पर हर हालत में मेले के दिन पहुँच कर अपनी मानी हुई मनौतियों के अनु-सार गरीबों को दान आदि व ब्राह्मणों को भोजन कराते। हिन्दू धर्मान्तिर्गत तमाम संस्कार यथा—मुण्डन व नामकरण आदि इसी कुण्ड के पास करवाना उत्तम माना जाता था। इस कुण्ड की बड़ी मान्यता थी। नेत्रदोष, काँवर, कोढ़, खुजली, पेट की बीमारियों से लोग जब पीड़ित होते तो कुण्ड में स्नान कर उसका पानी पीते और निजात पाते।

सूर्य ग्रहण के दिन स्नान करने वालों की इतनी भीड़ होती थी कि साँस लेना दूभर हो जाता। आज भी कार्तिक स्नान पर एक विशाल मेला कुण्ड के इर्द-गिर्द लगता है, जो तकरीबन एक महीने तक चलता है। बस समय के थपेड़ों के साथ स्नान करने वालों का स्थान बदल गया है। लोग अब सूर्यकुण्ड में स्नान करने की बजाय गोमती तट पर बने घाटों पर चले जाते हैं।

नवाब आसफुद्दौला ने जब इस कुण्ड की जीर्ण-शीर्ण दशा देखी तो इसकी मरम्मत करवायी थी। धीरे-धीरे इसका धार्मिक महत्व खत्म होता गया, लोग इसे भूलते गये। इतिहास गवाह है न जाने कितनी बार लखनऊ के सीने को दुश्मनों ने तोपों, घोड़ों की टापों, हाथियों के पैरों तले रौंदा, तमाम आलीशान कोठियाँ, और महल गिरे फिर बने मगर किसी ने कुछ न छुआ तो वह यही सूरज 'कुण्ड ही था। जिसने इंसानों की हैवानियत, बदनियत, और कमबख्ती देखकर खुद को समय के आगोश में छुपा लिया था। आज इसी कुण्ड से मिला जो निहायत खुबसूरत पार्क बना है उसका नाम सूरजकुण्ड ही दिया गया है।

सन् 1540 ई० में बादशाह हुमायूं शेरशाह सूरी के हाथों जौनपुर में बुरी तरह पराजित हो गया। वह सुल्तानपुर, लखनऊ, पीलीभीत होते हुए भागा। भागते वक्त हुमायूं लखनऊ में केवल चार घण्टे ही रुक सका क्योंकि बराबर दुश्मनों द्वारा उसका पीछा हो रहा था। लखनऊवासी इंसानी फर्ज से कभी पीछे नहीं हटे इसका तो इतिहास भी गवाह है। मुसीबतों का मारा दुश्मन ही क्यों न हो लखनऊ ने उसे भी अपने आँचल में प्यार और इज्जत से बैठाया है।

हुमायूं ने जब आप बीती सुनाई तो लखनऊ के एक बुजुर्ग पं० सदाशिव पाण्डेय ने भर, पासियों, कायस्थों और ब्राह्मणों को जुटा लिया। जो जितना दे सका खुशी से दे गया। इस प्रकार हुमायूं की मदद के लिए 10 हजार रुपये और 50 घोड़े एकत्र हो गये।

हुमायूं लखनऊवासियों की मेहमानबाजी और इन्सानी फर्ज को याद करता पीलीभीत निकल गया। 1590 ई० में अकबर ने जब हुकूमत संभाली तो हिन्दुस्तान को बारह प्रान्तों में बाँटा जिसमें एक प्रान्त अवध भी था। अवध की राजधानी बनने का गौरव 'लखनऊ' को हासिल हुआ। इन्हीं दिनों बिजनौर का एक शेख अब्दुर्रहीम लखनऊ आया। यहाँ वह पं० सदाशिव के साहबजादे पं० हरिहर पाण्डेय से मिला। हरिहर ने जब उसकी गरीबी देखी तो बड़ा दुखी हुआ। बादशाह अकबर के नाम एक खत लिखकर शेख अब्दुर्रहीम को दे दिया। खत में हुमायूं को गुरबत में दी गयी मदद तक का शुरू से आखिर तक जिक्र था। इस बारे में अकबर को भी जानकारी न थी। खत के आखिर में लिखा था—"यदि हो सके तो जहांपनाह इस गरीब की कुछ मदद कर दें।"

खत पढ़कर अकबर भाव विभोर हो गया। लखनऊवासियों के प्रति श्रद्धा से सिर झुका दिया। शेख अब्दुर्रहीम को एक बड़ी जागीर अदा कर दी और कहा—

"बखुदा, मुगलों की तारीख में जब भी मुवर्रिख हुमायूं के जवाल का जिक्र करेगा तो लखनऊ के मेजबान का जिक्र सुनहरी हर्फो में लिखते वक्त लक्ष्मण टीले के उस बरैहमन खानदान को भी फरामोश नहीं करेगा, जिसने शहंशाह हुमायूं को गुरबत में पनाह दी।"

वही पाई-पाई के लिये मोहताज शेख साहब लखनऊ आये और जागीर हासिल की। लक्ष्मण टीले के करीब ही उन्होंने 'पंच महला' और 'शेखन दरवाजा' बनवाया। लखनऊ में ही उनका इन्तकाल हुआ। उनका मकबरा 'नादान महल' के नाम से मशहूर है।

अकबर को लखनऊ से खास लगाव हो गया था। उसके जमाने में लखनऊ ने खूब तरक्की की खास कर व्यापार के मामले में। यूरोपीय पर्यटक लँकेट जो कि शाहजहाँ की हुकूमत के वक्त आया था उसने लखनऊ को एक शानदार मण्डी कहा। शाहजहाँ के वक्त ही सूबेदार अली शाह कुली खाँ के साहबजादे—मिर्जा फाजिल और मिर्जा मंसूर ने फाजिल नगर और मंसूर नगर दो मोहल्ले बसाये। रिसालदार अशरफ अली खाँ ने अशर्फाबाद आबाद किया तो उनके भाई जान मुशरफ खाँ ने मुशर्फाबाद मोहल्ला बसाया। इस प्रकार धीरे-धीरे लखनऊ में तमाम मोहल्ले आबाद होते चले गये। नबाब आसफुद्दौला ने फैजाबाद को छोड़कर जब अवध की राजधानी लखनऊ कायम की तो शहर-ए-लखनऊ दुल्हन की तरह सज उठा। इमारतों, खूबसूरत बागों का जाल तो फैला ही नये-नये तमाम मोहल्ले बसने शुरू हो गये। नवाब आसफुद्दौला के निजी दारोगा ने—फतेहगंज, अमीनगंज, दौलतगंज, रकाबगंज, खानसामें का अहाता, बेगमगंज मोहल्ले बसाये तो महाराजा टिकैतराय ने टिकैतराय का बाजार, टिकैतगंज, नवाब आसफुद्दौला की माता बहू बेगम ने अलीगंज, भवानीगंज, तरमनी गंज, हसनगंज की बावली, तहसीन गंज, खुदागंज, कश्मीरी मुहल्ला, हसीनुद्दीन खाँ की छावनी, सूरत सिंह का अहाता, बालकगंज आदि तमाम मोहल्ले आबाद किये। इनके अतिरिक्त तोप दरवाजा, ख्यालीगंज, महबूबगंज, अंबरगंज, नदी के इस पार हसनगंज आदि मोहल्ले आबाद हुए।

सआदत अली खाँ का जमाना आया तो मोहल्लों के साथ-साथ, बड़े-बड़े बाजार भी कायम हुए जिनमें जंगली गंज, रस्तोगी मोहल्ला, मौलवीगंज, मकबूल गंज, रकाबगंज प्रमुख थे। रकाबगंज उन दिनों लोहे और अनाज की सबसे बड़ी मण्डी थी। गाजीउद्दीन हैदर को जब शाही खिताब हासिल हुआ तो इस खुशी में उन्होंने एक नया बाजार कायम किया बादशाहगंज। वजीर आगामीर कैसे चुप बैठते उन्होंने मुहल्ला आगामीर की ड्योढ़ी बसाया तो हकीम मेंहदी ने मेंहदीगंज मोहल्ला आबाद किया।

नसीरुद्दीन के वक्त में चाँदगंज और गणेशगंज मोहल्ले बसे। अमजद अली शाह के जमाने में लखनऊ का सबसे रंगीन और हसीन मोहल्ला हजरतगंज बसा जो शहर में आबाद तमाम मोहल्लों से अधिक साफ सुथरा था। अमजद अली शाह के वजीर अमीनुद्दौला ने मौहल्ला—'अमीनाबाद' आबाद किया। यह दोनों ही मोहल्ले दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करते गये 'हजरतगंज' लखनऊ का दिल

बना तो अमीनाबाद धड़कन।

लेफ्टीनेन्ट मेजर मक्नाड ईनिस (आर० ई० पी० सी०) ने अपनी किताब 'लखनऊ एण्ड अवध इन द म्यूटिनी' में लखनऊ के तत्कालीन स्वरूप विशेषकर पुलों और मार्गों का जिक्र किया है—

"लखनऊ शहर तकरीबन साढ़े पाँच मील लम्बा और ढाई मील चौड़ा है। यह मुख्यत: गोमती के किनारे आबाद है। यह तीन ओर से एक बड़ी व गहरी नहर से घिरा हुआ है। शहर के पश्चिमी भाग में घनी आबादी है। शहर का पूर्वी और दक्षिणी भाग भी घना बसा है। शहर का उत्तरी-पूर्वी भाग बंगलों, कोठियों महलों से आच्छादित है। जहाँ शहर के पूर्वी और पश्चिमी भाग विभक्त होते हैं, वहाँ गोमती नदी पर एक पुराना पुल मौजूद है जिसे 'पत्थर का पुल' कहते हैं। पुल से एक मील दूर नदी के बहाव वाली दिशा में एक नया लोहे का पुल बना है। इन दोनों पुलों से होकर मड़ियाँव छावनी की ओर आवागमन होता है। मडियाँव उत्तर में दो मील की दूरी पर है। दक्षिण दिशा में कानपुर जाने का रास्ता लोहे के पुल से प्रारम्भ होकर बेलीगारद के किनारे से होता हुआ चार बाग क्षेत्र में निर्मित नहर के ऊपर से होकर जाता है। 'मच्छी भवन' और बेलीगारद दरिया के दक्षिणी तट पर क्रमश: पत्थर के पुल और लोहे के पुल के करीब ही बने हुए हैं।

दारोगा अब्बास अली बेग ने अपनी किताब 'द लखनऊ एलबम' में लखनऊ के तत्कालीन स्वरूप पर रोशनी डाली है—

"अवध में बादशाहत से पहले लखनऊ में अधिकांशत: मजबूत ईंट या पत्थर के इटालियन और मुस्लिम वास्तुकला में निर्मित दो या तीन मंजिले ऊँचे मकान बने होते थे। जिनके बीच में सकरी किन्तु साफ सुथरी गलियाँ होती थीं। जन-संख्या बहुत थी जिसके कारण गलियों में घुड़सवारी या किसी सवारी को ले जाना नामुमकिन होता था। ऐसा कहते हैं फैजाबाद और लखनऊ यह दोनों शहर पहले एक गुप्त सुरंग द्वारा जुड़े थे, जिनके बारे में केवल अवध के नवाब ही जानते थे।"

जब सुरंगों का जिक्र आ ही गया है तो यह कहना बेजा नहीं होगा कि लखनऊ यदि 'बागों का शहर' है तो यह 'सुरंगों पर बसा शहर' भी है।

छतर मंजिल से मोती महल तक आज भी एक सुरंग मौजूद है जिसके प्रवेश द्वार बन्द कर दिये गये हैं। कोठी रोशनुउद्दौला और नवाब अली का अकबर हाउस एक सुरंग के माध्यम से जुड़े थे। विलायती बाग से एक सुरंग दिलकुशा महल तक जाती थी, अवध की बेगमातें अक्सर इस गुप्त रास्ते से आया-जाया करती थीं। इसी तरह से एक सुरंग रेजीडेंसी तक आती थी। ऐतिहासिक सूर्य-कुण्ड तक भी एक लम्बी सुरंग आने के प्रमाण मिले हैं।

नवाबीन वक्त में जितनी भी इमारतें बनीं उनमें से अधिकांश इमारतों में तहखाने बने थे। यह तहखाने गर्मियों के लिये आरामदेह तो थे ही साथ ही साथ संकट के वक्त में सुरक्षा की दृष्टि से भी बड़े महत्वपूर्ण थे। इनमें से अधिकांश तहखाने एक-दूसरे से सुरंगों द्वारा जुड़े थे।

वक्त की करवटें लखनऊ का भी रूप रंग बदलती गयीं। उत्तर प्रदेश की राजधानी होने का गौरवमयी ताज शीश पर रखे शहर-ए-लखनऊ अब विकास की दौड़ में शामिल हो चुका है। आज लखनऊ महानगर की भौगोलिक संरचना 2528 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में सीमांकित है।

नवाबीन-ए-अवध

अवध के कुल ग्यारह नवाब हुए, जिनमें से पाँच नवाबों ने बादशाह का खिताब हासिल किया था। नवाब वजीर गाज़ीउद्दीन हैदर को अंग्रेजों ने रुपयों के लालच में सन् 1819 में 'बादशाह' का खिताब दिया। इस तरह से अवध में नवाबी शासन 136 साल 3 महीना, 24 दिन रहा और बादशाही शासन-37 साल तक।

अवध के नवाब इस प्रकार रहे—

(1) सैयद मुहम्मद अमी उर्फ सआदत खाँ 'बुरहानुलमुल्क'	सन् 1720	से	1739
(2) नवाब अलमंसूर खाँ सफदरजंग	,, 1739		1756
(3) शुजाउद्दौला	,, 1756		1776
(4) आसफुद्दौला	,, 1776		1797
(5) मिर्जा अली उर्फ वज़ीर अली	,, 1797		1798
(6) नवाब सआदत अली खाँ	,, 1798		1814
(7) बादशाह गाज़ीउद्दीन हैदर	,, 1814		1827
(8) नसीरुद्दीन हैदर	,, 1827		1837
(9) मुहम्मद अली शाह	,, 1837		1842
(10) अमजद अली शाह	,, 1842		1847
(11) वाजिद अली शाह	,, 1847		1856

1. **सैयद मुहम्मद अमी उर्फ सआदत खाँ 'बुराहानुलमुल्क'**—सन् 1720 ई० में दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मद शाह ने सैय्यद मुहम्मद अमी उर्फ सआदत खाँ को आगरा का सूबेदार बना कर भेजा। इस प्रकार मुहम्मद अमी अवध के पहले 'नवाब' हुए। मुहम्मद अमी नौशापुर के ईरानी सौदागर थे। बादशाह मुहम्मद शाह से अच्छी दोस्ती होने के कारण दिल्ली दरबार में उनका काफी प्रभाव था। जिससे उन्हें आगरे की सूबेदारी का सौभाग्य मिला और फिर अवध की सूबेदारी। उन्हें नवाब वजीर का पद 1732 में हासिल हुआ। मुहम्मद अमी

को 'बुरहानुलमुल्क' का खिताब बादशाह ही ने दिया था। मुहम्मद अमी ने सन् 1739 में आत्महत्या कर ली और इस दुनियाँ से रुखसत हो गए।

2. **नवाब अलमंसूर खाँ सफ़दरजंग**—अपने वालिद सआदत खाँ के इन्तकाल के बाद नवाब अलमंसूर खाँ सफ़दरजंग ने सूबेदारी संभाली। बादशाह दिल्ली की ओर से उन्हें 'नवाब वज़ीर' का खिताब हासिल हुआ। गवर्नर जनरल लार्ड मायरा की सलाह पर दिल्ली के बादशाह ने नवाब वज़ीर सफ़दरजंग को 'बादशाह' का खिताब दिया। नवाब सफ़दरजंग ने 17 साल तक हुकूमत की और अवध में चारों ओर एक अगाध शांति और सुख का साम्राज्य स्थापित कर दिया।

3. **शुजाउद्दौला**—नवाब अलमंसूर के बाद सन् 1756 में शुजाउद्दौला अवध के तीसरे नवाब वज़ीर हुए। वज़ीर शुजाउद्दौला को बक्सर का युद्ध हारने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सन्धि करनी पड़ी। शुजाउद्दौला किसी भी हालत में फिरंगियों से सन्धि नहीं करना चाहते थे, मगर विधाता विपरीत था। जब अंग्रेजों का अधिकार इलाहाबाद के किले पर हो गया तो शुजाउद्दौला का बचा-खुचा साहस भी टूट गया। उन्हें न चाहते हुए भी सन्धि करनी ही पड़ी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लड़ाई के हर्जाने के रूप में 50 लाख रुपया शुजाउद्दौला से वसूल किया। जिसमें 30 लाख रुपया बाद में देना था और 20 लाख रुपया तुरन्त जमा करना था।

मेजर बर्ड ने अपनी किताब में युद्ध के बाद उत्पन्न हुए हालातों पर प्रकाश डाला है। नवाब साहब को सन्धि के मुताबिक चूंकि 30 लाख रुपया बाद में अदा करना था, सो उन्होंने कुछ समय के लिए चुनार गढ़ का किला अंग्रेजों के पास जमानत के तौर पर रख दिया। मगर सरकार ने 30 लाख रुपया हासिल कर लेने के बाद भी यह किला वापस न किया। यही नहीं नवाब साहब को अपने सभी फ्राँसीसी कर्मचारी तक हटाने पड़े और कम्पनी की सेना को अपने पास रखना पड़ा। जिसका खर्च नवाब साहब को ही उठाना था।

इस बुरे वक्त में 'बहू-बेगम' ने अपने पति का पूरा साथ दिया। हर्जाने के कुल 50 लाख रुपयों में से 30 लाख रुपये इकट्ठे करने के लिए बहू बेगम ने अपने सारे जेवर यहाँ तक कि नाक की कील भी नवाब साहब के हाथ सौंप दी। जनाब-ए-आलिया बहू बेगम गुजरात के सूबेदार मौतमनुद्दौला मोहम्मद इसहाक की लड़की थीं। नवाब साहब थे बड़े ही आशिक मिजाज। तारीख-ए-अवध के अनुसार नवाब साहब की दो हजार से अधिक बीवियाँ थीं। ये बेगमें जिस महल में रहती थीं उसे 'हूरमहल' कहते थे। बहू बेगम की जब शादी हुई उनके अब्बा हुजूर खुदा को प्यारे हो चुके थे। शादी की सारी रस्म उनके बड़े भाई 'नजमुद्दौला' ने अदा की।

शादी के बाद बहू बेगम फैजाबाद आ गयीं। नवाब शुजाउद्दौला बहू-बेगम की बड़ी इज्जत करते थे। कहते हैं अगर कभी नवाब साहब एक रात भी खास महल के बाहर कहीं और आराम फरमाते तो सुबह चुपचाप 500 रुपये बतौर

जुर्माने उनके सिरहाने पहुँचवा दिया करते। बहू बेगम से एक बेटा हुआ जो आसफुद्दौला के नाम से मशहूर हुआ। आसफुद्दौला के अलावा नवाब 25 बेटों और 22 बेटियों के अब्बा थे। शुजाउद्दौला की एक बेगम आलिया सुलतान भी बड़ी मशहूर हुई। इनका असली नाम गुन्ना बेगम था। किताब इमादतुलसादत के अनुसार—एक रोज़ दिल्ली के बादशाह मोहम्मद शाह ने नवाब सफदरजंग से बातों ही बातों में शुजाउद्दौला की शादी का जिक्र कर दिया। नवाब साहब ने कहा ——अभी चंद रोज ही हुए हैं एक पैगाम नवाब अली कुली खाँ छः उंगली वाले मीर तोजक के यहाँ से आया है। खानदान अच्छा है वह अब्बासी सैय्यद और शाह तहमास्ब सफवी के वज़ीर हसन कुली खाँ के भतीजे हैं मगर मुसीबत यह कि लड़की गुन्ना बेगम एक तवायफ से पैदा हुई है। इसी ऐब के कारण शुजाउद्दौला की माँ इस शादी पर राजी नहीं है।

शुजाउद्दौला ने गुन्ना बेगम की खूबसूरती के चर्चे सुन रखे थे। शादी की बात टूटनी उनके लिए असह्य हो गयी। माँ की इच्छा के खिलाफ उन्होंने एक खत शेर अंदाज खाँ के हाथ गुन्ना बेगम की माँ के पास भिजवा दिया कि वह शादी के लिए तैयार हैं। गुन्ना बेगम खत पाते ही दिल्ली से लखनऊ के लिए चल पड़ी। आगरे में वह रुक गयी। राजा भरतपुर का लड़का जवाहर सिंह गुन्ना बेगम की खूबसूरती देख अपने को रोक न सका। अपने आदमियों को हुक्म दिया जैसे भी हो यह हसीना उसके सामने पेश की जाए। गुन्ना बेगम के साथ शेर अंदाज खाँ भी था। जवाहर सिंह और शेर अंदाज खाँ के बीच कटरा वजीर खाँ में जोरदार भिड़न्त हो गयी। इधर मौका देख माँ-बेटी वहाँ से खिसक लीं। फर्रुखाबाद के राजा नवाब अहमद खाँ ने इनको अपने यहाँ शरण दी। नवाब अहमद खाँ के यहाँ इमादुद्दौला गाज़ी-उद्दीन खाँ भी ठहरे हुए थे। उनकी निगाह जब इसके हुस्न पर पड़ी तो नीयत डोल गयी। नवाब अहमद खाँ ने गाज़ीउद्दीन को रोक दिया। गुन्ना बेगम को सही सलामत शुजाउद्दौला के पास भिजवा दिया। मुन्ना बेगम से निकाह करने के बाद उसे 'आलिया सुलतान बेगम' का खिताब दिया। गुन्ना बेगम से केवल एक बेटा पैदा हुआ—नसीरुद्दौला।

नवाब शुजाउद्दौला का सन् 1775 में इन्तकाल हो गया।

4. **आसफुद्दौला**—नवाब शुजाउद्दौला के बाद आसफुद्दौला गद्दी पर बैठे। हुकूमत संभालते ही अनेक मुसीबतें उनके चारों ओर खड़ी हुईं। वारेन हेस्टिंग्स ने नवाब साहब को सूचना भेजी कि शुजाउद्दौला के साथ की गयी सन्धि अब टूट गयी है, अत. उन्हें पुनः एक नई सन्धि करनी होगी।

आसफुद्दौला को अंग्रेजों की यह शर्त माननी ही पड़ी और 21 मई सन् 1775 को एक नई सन्धि हो गयी। इसके मुताबिक नबाव साहब को 50 लाख रुपये नकद कम्पनी को देना था। इस मुद्दे पर नवाब साहब ने अपने वज़ीर मुख्तियारुद्दौला से

मश्विरा किया और 50 लाख रुपये नकद देने के बदले में बनारस का इलाका कम्पनी सरकार को दे दिया। यह एक तरह से अंग्रेजों की सबसे बड़ी सफलता थी। उनको 25 लाख रुपये अतिरिक्त का मुनाफा हुआ क्योंकि बनारस से नवाब साहब को 75 लाख रुपये सालाना की आमदनी होती थी।

उधर अवध में मौजूद कम्पनी की सेना का बोझ नवाब का सिरदर्द बना ही था ऊपर से उनपर सेना की देखरेख के लिए 50,000 रुपए माहवार का खर्च और थोप दिया गया। 15 दिसम्बर 1775 की सन्धि से नवाब साहब बड़े त्रस्त थे और अक्सर कम्पनी सरकार इनसे कुछ न कुछ माँगा करती थी। झल्लाकर उन्होंने वारेन को एक खत लिखा कि "अब तो दम घुट रहा है आपकी माँग रोज बढ़ती ही जा रही है।"

अन्त में 11 सितम्बर सन् 1781 में चुनार किले में नवाब साहब और वारेन हेस्टिंग्स की मुलाकात हुई। 19 सितम्बर 1781 में एक और नई सन्धि हुई जिसके मुताबिक कम्पनी को सेना घटानी थी। मगर कम्बख्त हरामखोर कम्पनी सरकार नवाब पर से अपनी सेना का भार कम करने की बजाय और बढ़ाने के मौके की तलाश में थी।

1 फरवरी सन् 1747 से सितम्बर 1783 तक कम्पनी ने 2 करोड़ 30 लाख रुपया नकद छीना। सन् 1786 में जब लार्ड कार्नवालिस गवर्नर जनरल बनकर भारत आए तब जाकर अल्प समय के लिए नवाब आसफुद्दौला ने थोड़ी राहत की साँस ली। कार्नवालिस के बाद सर जान शोर अस्थायी गवर्नर जनरल हुआ। जान शोर बड़ा ही बेरहम इंसान था आते ही उसने नवाब साहब को एक यूरोपियन पल्टन और एक देशी पल्टन रखने को कहा। नवाब साहब के तत्कालीन वजीर महाराजा झाऊलाल थे उन्होंने इतना बड़ा बोझ उठाने से इनकार कर दिया क्योंकि नवाब आसफुद्दौला के पास अब इतना पैसा नहीं बचा था कि यह अतिरिक्त खर्च वहन कर सकें। काफी पैसा नेक दिल नवाब ने सन् 1783 में पड़े भयंकर अकाल के वक्त इमामबाड़ा व रूमी दरवाजा बनवाने पर खर्च किया था।

झाऊलाल के इनकार करने पर उन्हें कैद कर लिया गया। नवाब साहब को जान शोर ने कानपुर बुला भेजा एवं जबरन उनको यह अतिरिक्त भार वहन करने पर मजबूर किया। इस अपमान के कारण नवाब साहब को बड़ी ठेस पहुँची वह इसे बर्दाश्त न कर सके और उनका 1797 में इंतकाल हो गया।

5. **मिर्जा अली उर्फ वज़ीर अली**—मिर्जा अली उर्फ वजीर अली अपने वालिद के गुज़र जाने के बाद अवध की गद्दी पर बैठे। उन्होंने केवल एक वर्ष तक ही शासन किया। वजीर अली के चचा जान याने कि सआदत अली की तमन्ना थी कि वह अवध की गद्दी पर बैठें। उनकी यह तमन्ना कम्पनी सरकार ने पूरी कर दी। फौजी ताकत के बल पर वजीर अली को गद्दी से उतारकर

21 जनवरी सन् 1798 में सआदत अली को अवध के हुकूमत की लगाम थमा दी गयी ।

6. **नवाब सआदत अली खाँ**—21 जनवरी सन् 1798 में सआदत खाँ अगर एक ओर अवध के नवाब बने तो दूसरी ओर अंग्रेजों के हाथ की तकली । उनके नवाब होते ही जान शोर ने फरवरी 1798 में 17 शर्तों वाला एक सन्धि पत्र प्रस्तुत किया । उस वक्त तक तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 56 लाख रुपए सालाना कर दिया गया । इसके साथ ही अब किला इलाहाबाद भी पूरी तरह से अंग्रेजों ने हासिल कर लिया था ।

कम्पनी सरकार चाहती थी कि धीरे-धीरे नवाब की सैन्य शक्ति एकदम खत्म कर दी जाए । सन् 1798 में हुई सन्धि के तहत नवाब ने विवश होकर यह मंजूर कर लिया कि वह बिना रेजिडेन्ट की आज्ञा के किसी यूरोपियन को अपना कर्मचारी नहीं रखेंगे । कम्पनी सरकार ने नवाब साहब को हर तरह से ठोंक बजाकर देख लिया था और वह निरन्तर धीरे-धीरे अवध पर कब्जा जमाती जा रही थी ।

लार्ड वेलेजली ने नवाब सआदत अली से अवध का आधा राज्य माँगने की बजाय उनसे सख्त आदेशात्मक लहजे में कहा कि अवध का आधा राज्य कम्पनी सरकार को दे दिया जाए । नवाब साहब कर भी क्या सकते थे बड़े ही भारी मन से अपने जिगर के आधे टुकड़े को उन्होंने कम्पनी सरकार के सुपुर्द कर दिया, जिसकी वसूली सालाना 1,35,00,000 रुपये थी । इसके अलावा लार्ड वेलेज़ली ने कहा कि अगर नवाब इस पर राजी न हो तो वह गद्दी छोड़ दें उनकी पेंशन बाँध दी जाएगी ।

28 अप्रैल, 1801 ई० को लखनऊ के रेजिडेन्ट को वेलेज़ली ने एक खत लिखा कि अगर नवाब साहब न माने तो जबरन अवध पर कब्जा कर लिया जाए । सन् 1798 में हुई सन्धि के अनुसार नवाब की रियासत की देखभाल कम्पनी सरकार खुद करेगी और उनके पास उतनी ही फौज मौजूद रहेगी जिससे कि उनका जरूरी काम चलता रहे ।

अब तो कम्पनी सरकार राजकाज के मामलों में भी दखल देने लगी थी । एक अन्य शर्त के मुताबिक नवाब साहब हमेशा ब्रिटिश फौज की निगरानी में रहेंगे और विभिन्न आवश्यक मुद्दों पर कम्पनी उन्हें आदेश भी देती रहेगी । इस प्रकार नवाब सआदत अली नाममात्र के ही नवाब रह गये थे ।

7. **बादशाह गाजीउद्दीन हैदर**—12 जुलाई सन् 1814 ई० को नवाब सआदत अली के साहबजादे गाज़ीउद्दीन हैदर गद्दी पर विराजे । सआदत अली 14 करोड़ रुपये छोड़कर मरे थे सो लार्ड हेस्टिंग्ज ने बड़ी चापलूसी की । गाज़ी-उद्दीन को सन् 1819 में 'बादशाह' का खिताब दिया । कम्पनी सरकार ने पैसे के लालच में कितनी चापलूसी की इसका उदाहरण 23 जून, 1826 को एमहर्स्ट

द्वारा बादशाह गाज़ीउद्दीन को लिखा गया एक पत्र है। जिसमें नवाब साहब द्वारा नेपाल युद्ध के लिए प्रदत्त 50 लाख रुपए के लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी है—

"यह सुनकर कि अपनी गद्दी की रौनक तथा राज्य की मर्यादा बढ़ाने वाले आप श्री सम्राट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 50 लाख रुपये देने की जो महान उदारता तथा कृपा की…मैं श्री सम्राट महोदय के अगनित दिनों के वैभव तथा सुख की कामना करता हूँ…।"

ज्यों-ज्यों नवाब साहब का खजाना हलका होता गया त्यों-त्यों अंग्रेजों की उदारता, महानता, कृपा आदि का स्वरूप भी बदलता गया।

नवाब शुजाउद्दौला की पत्नी बहू बेगम का इंतकाल गाज़ीउद्दीन के शासन काल में हुआ। जब वह मरी तो एक करोड़ रुपये और तमाम जायदाद छोड़ गई थी जो कि परम्परा के मुताबिक गाज़ीउद्दीन को ही मिलनी चाहिए मगर फिरंगी लुटेरों ने वह एक करोड़ रुपये भी हड़प लिए।

इस प्रकार अंग्रेजों ने नवाब साहब के खजाने को एक जोंक की तरह चूसा। नवाब साहब सन् 1827 में इस बेरहम स्वार्थी दुनिया से रुखसत हो गये।

8. **नसीरुद्दीन हैदर**—20 अक्टूबर 1927 को गाज़ीउद्दीन के पुत्र नसीरुद्दीन ने अवध की हुकूमत संभाली। उस वक्त उसकी उम्र 25 वर्ष थी। नवाब साहब बड़े ही रंगीन मिजाज के निकले। पैसा पानी की तरह खर्च करते उनका अधिकांश समय भोग विलास में बीतता। उनकी कमजोरी थी खूबसूरत स्त्री। बादशाह का दिल एक दिन एक विलायती लड़की पर जा टिका। लड़की के पिता का नाम हापकिन्स वाल्टरी था जो कि कम्पनी सरकार की सेना का मुलाजिम होकर लखनऊ आया था। नवाब साहब ने उससे शादी रचाई और उसका नाम 'मुकद्दरा औलिया' रखा।

बादशाह नसीरुद्दीन को एक गरीब परिवार से ताल्लुक रखने वाली स्त्री से प्रेम हो गया और उससे निकाह कर लिया उसका नाम था 'कुदसिया'। बादशाह कुदसिया बेगम से बड़ी मोहब्बत करते थे। एक दिन वह दिलकुशा घूमने गए और तमाम लंगूर बन्दर मार डाले। शाम को जब महल वापस आये तो कुदसिया बेगम से उनकी तू-तू मैं-मैं हो गयी। यह झगड़ा इतना बढ़ा कि कुदसिया बेगम ने ज़हर खा लिया। खाते ही आँतें मुँह से निकल आयीं आँखें बाहर उबल पड़ीं। बादशाह यह दृश्य देख भाग खड़े हुए। वह इतना डर गए कि अस्तबल में जा छुपे। जब बेगम की लाश वहाँ से हटा दी गयी तब जाकर वह कहीं महल में लौटे। कुदसिया महल की जुदाई का गम बादशाह सह न पाये बड़े बेचैन व खोये-खोये से रहने लगे। बादशाह के दिल से कुदसिया महल की यादों को निकलने का एक ही चारा था कि उनकी शादी किसी ऐसी लड़की से की जाये जो मरहूम बेगम से मिलती जुलती

शक्ल की हो।

शीघ्र ही उनके दोस्तों ने एक रास्ता खोज निकाला। कुदसिया बेगम की एक छोटी बहन और थी। नाम नाजकु अदा था। उसकी शादी नवाब दूल्हा से हो चुकी थी। दोनों ही बहनों की शक्ल सूरत ही नहीं आदतें तक मिलती थीं। बादशाह के दोस्तों और दरबारियों ने बड़ी कोशिशें की कि नाजुक अदा नसीरुद्दीन से निकाह करने को राज़ी हो जाये मगर इन सारी कोशिशों पर पानी फिर गया। दरबारियों ने एक रास्ता और खोज निकाला। नवाब रोशनुद्दौला की ओर से मीर सैयद अली को नाजुक अदा के शौहर से बात करने के लिए भेजा कि वह उसे तलाक दे दें। नवाब दूल्हा बड़ी मुश्किल से राज़ी हुआ और तलाक दे दिया।

फिर भी नाजुक अदा बादशाह से निकाह करने को राजी न हुई। इस पर उसे एक मकान में नजरबन्द कर दिया गया। एक दिन मौका पाकर वह भाग निकली और कानपुर जाकर अपने मियाँ से मिली। कहते हैं नाजुक अदा की इस फरारी में रोशनुद्दौला का काफी हाथ रहा। उसने नवाब दूल्हा से कह दिया था कि वह उसे नाटकीय तौर पर तलाक दे दें शीघ्र ही उसकी बीबी उसके पास दोबारा पहुँचा दी जायेगी।

नाजुक अदा और उसके शौहर नवाब दूल्हा की बड़ी तलाश करवाई गयी पर दोनों का कुछ पता न चला। अब इस तलाश को बन्द कर दोबारा कुदसियाँ महल की हमशक्ल को ढूँढ़ने की कोशिश शुरू हो गयी। तमाम लड़कियाँ बादशाह के सामने लाई गयीं मगर उन्हें कोई भी पसन्द न आयी। तरीखे-अवध के अनुसार एक दिन रोशनुद्दौला ने बादशाह से अपने रिश्तेदार की लड़की का ज़िक्र किया। वह चाहते थे कि कुदसिया महल के चेहल्लुम के बाद उनका निकाह हो जाये। उन्होंने एक रोज़ बादशाह को दावत के बहाने अपने घर बुलाया और रिश्तेदार मिर्ज़ा बाकर अली खाँ की लड़की उन्हें दिखाई।

बादशाह उसकी खूबसूरती देखते ही उस पर फिदा हो गये। शादी की बात पक्की हो गयी। बड़ी धूमधाम से शादी हुई। निकाह होने के बाद बादशाह ने अपनी नयी बीबी को 'मुमताजुद्दहर' का खिताब दिया।

कम्पनी सरकार ने नसीरुद्दीन को भी लूटा 1 मार्च सन् 1821 ई० को सरकार ने उनसे 62,40,000 रुपयों की माँग की। नसीरुद्दीन ने न चाहते हुए भी इतनी बड़ी रकम अदा कर दी। बादशाह नसीरुद्दीन बड़े ही नेकदिल इंसान थे। उन्होंने कई स्कूलों व कालेजों की स्थापना की। किसानों की दशा सुधारने के लिए भी बादशाह ने कई प्रयास किये उनकी योजना गंगा से एक नहर निकालने की थी मगर हरामखोर अंग्रेजों ने ऐसा होने न दिया। एक हजार रुपया कम्पनी सरकार को इसलिए दिया जाता था कि गरीब तबके के लोगों का मुफ्त इलाज हो सके।

रेज़ीडेन्ट की कोठी (बेलीगारद) पर सालाना बीस हजार रुपये मरम्मत आदि के लिए खर्च किये जाते थे। अंग्रेजों ने यह रकम बढ़ाकर पचास हजार रुपये सालाना कर दी।

रात बादशाह की तबियत अचानक खराब हो गयी और वह 7 जुलाई सन् 1837 को इस दुनिया से कूच कर गये।

9. **मुन्नाजान और मुहम्मद अली शाह**—नसीरुद्दीन का इस दुनिया से रुखसत होना ही था कि गद्दी के लिए हाय तौबा मचनी शुरू हो गयी। जिसका जिक्र मिर्ज़ा रजब अली बेग ने अपनी किताब "फसानये इब्रत" में किया है—

"बाद दफ़न नसीरुद्दीन हैदर आधी रात को नसीरुद्दौला गद्दी पाने के लिए फरहतबख्श कोठी में तशरीफ ले आये। रेजिडेन्ट कर्नल छोटे साहब एवं रोशनुद्दौला व सुबाहन अली खाँ कमरे में सलाह कर रहे थे। उसी वक्त बादशाह बेगम फसर्दूबख्श मिर्ज़ा और मुन्नाजान हाथी पर सवार होकर एक जुलूस के साथ दरवाजे पर आ पहुँचे। छोटे साहब ने दरवाजे पर पहुँच कर मना किया पर वे न मानी हाथी से उतरकर अन्दर आ गयीं। हंगामा हुआ और छोटे साहब घायल भी हो गये। बेगम ने मुन्नाजान को तख्त पर बिठाया। जो लोग हाजिर थे उनको नजरें दी गयीं। बाकी दूसरे दिन के लिए मुलतवी रखी गया। मिर्ज़ा इमाम बख्श सिपह-सालार मुकर्रर हुए। रेजिडेन्ट साहब ने उसी वक्त फौज की तैयारी का हुक्म दिया बादशाह बेगम और नवाब रोशनुद्दौला में गर्मागर्म बहस हो रही थी। रेजिडेन्ट ने मिर्ज़ा अली खाँ से कहा कि बेगम ने यह अच्छा नहीं किया। राज्य के लालच में न पड़ें, घर वापिस जायें सुबह देखा जायेगा"

"……फिर रेजिडेट ने मुस्तफा खाँ रिसालदार अब्दुर्रहमान खाँ कंधारी के पोते को समझाया कहा कि बखुशी राज्य छोड़ दें वरना अच्छा न होगा। छोटे बड़े की खातिर में नहीं आया। इसके बाद मैगनीज के रिसाले की तोपें लाल बारादरी के सामने लगायी गयीं। कत्ले आम शुरू हुआ। बादशाह बेगम मुन्नाजान को लेकर खराब हालत में अल्मास बाग वापस आयीं। वहाँ से गिरफ्तार होकर कई दिन तक मुन्नाजान के साथ रेजिडेन्सी में रहीं। अरबी उस्सानी मंगल के दिन, 1225 हिज्री को अंग्रेजी फौज कानपुर से आ गयी। वे एक टूटे बंगले में कैद की गयीं और वहाँ से चुनारगढ़ के किले में भेजी गयीं।"

इस प्रकार तमाम जान-माल का नुकसान हुआ। 8 जुलाई सन् 1837 को को नसीरुद्दौला गद्दी पर बैठे। नसीरुद्दौला का नाम बदल कर 'मुहम्मद अली शाह' रखा गया। उन्हें एक खिताब भी हासिल हुआ—'अबुल फ़तह मुईनुद्दीन सुल्ता-नेज़मा नौशेखाने आदिल।'

नसीरुद्दीन हैदर के वजीर रोशुनुद्दौला मुहम्मद अली शाह के भी वज़ीर रहे लेकिन केवल 3 माह तक ही। बादशाह ने रोशनुद्दौला को हटाकर हकीम मेंहदी

को अपना वज़ीर बनाया। रोशनुद्दौला कम्पनी सरकार का कुत्ता था। तमाम हेर-फेर के कारण उस पर 20 लाख का जुर्माना हुआ और वज़ीर साहब जेल में पहुँच गये उनका तीन लाख का मकान भी मुहम्मद अली शाह ने अपने कब्जे में कर लिया मगर जल्दी ही घूस देकर वह कैद से भाग निकला और उसे उसके आकाओं ने शरण दी।

मुहम्मद अली शाह को नये गवर्नर जनरल लार्ड आकलैण्ड ने 25 जुलाई, 1837 को बादशाह होने पर बधाई पत्र भी भेजा था। मुहम्मद अलीशाह एक योग्य शासक के रूप में उभर कर सामने आये। रज्ज़बअली सरूर 'फसानये इब्रत' में लिखते हैं कि—"वरवक्त तख्तनशीनी हर आदमी अपनी-अपनी जगह पर खुश था—बागी लोगों की गिरफ्तारी शुरू हुई—27 अक्टूबर को सुबहान अली खाँ, एहसान हुसैन खाँ, मुजफ्फर हुसैन खाँ, खादिम हुसैन, बन्दा हुसैन और कुदरत हुसैन गिरफ्तार होकर कैद खाने भेजे गये। धनिया व दुलवी कहारिन भी गिरफ्तार हुई—।"

मुहम्मद अली शाह को इमारतें बनवाने का भी बड़ा शौक था जिसका ज़िक्र किताब 'अफ़जलुत तवारीख़' में मुन्शी राम सहाय ने किया है।

1.	इमामबाड़ा हुसैनाबाद	1253	हिजरी
2.	दरवाज़ा इमामबाड़ा	1254	,,
3.	सड़क हुसैनाबाद	,,	,,
4.	जरीह (ताजिया)	,,	,,
5.	हुसैनाबाद कुआँ	,,	,,
6.	रसदगाह	,,	,,
7.	हुसैनाबाद का हम्माम व हौज़	1255	,,
8.	सराय हुसैनाबाद	,,	,,
9.	तालाब नौखण्डा	,,	,,
10.	मस्जिद हुसैनाबाद	,,	,,
11.	गेंद खाना	,,	,,

इस प्रकार मुहम्मदअली शाह एक कुशल शासक के रूप में सदैव याद किए जायेंगे। कम्पनी सरकार भी उनसे खुश ही रही, कारण रकम मिलती ही थी लेकिन अन्दर ही अन्दर वह उन्हें भी बराबर खोखला करती रही। 4 रबी उस्सनी, तदनुसार सोमवार, 16 मई 1842 को उनका इन्तकाल हो गया।

10. अमजद अलीशाह—मुहम्मद अलीशाह के गुजरने के बाद अमजद अली ने गद्दी संभाली अमजद साहब बड़े ही अय्याश निकले। सुरा और हुस्न परियों के बीच मदमस्त रहना उनके जीवन का एक अंग बन गया।

ऐसे माहौल में शाह के चापलूसों की बाढ़ आ गयी और खूब जमकर बादशाह से पैसा ऐंठा। उनमें एक सबसे बड़ी खामी यह थी कि वह बड़ी जल्दी ही किसी की बातों में आ जाते थे। बादशाह ने केवल 5 साल तक ही हुकूमत की। कहते हैं कि अमजद अली शाह ने अपने साहबजादे मुस्तफा अली शाह को वली अहद नहीं बनाया क्योंकि मुस्तफा की माँ जब रनिवास में आयी थी तो उस वक्त मुस्तफा की उम्र डेढ़ साल की थी। अतः उन्होंने उसे युवराज बनाने से इनकार कर दिया। मिर्जा रज्जब अली ने उस समय के हालातों पर रोशनी डाली है। लिखते हैं—"शरीफ़ों का ज़वाल और कमीनों का ज़ोर हुआ—तख़फीफ़ का बाजार गर्म हुआ। अय्याशी का दौर शुरू हुआ———हर चीज में मिलावट———बस्तियों में डाका———कत्ल———नाज़िम और आमिल सब नालायक———अदालतों में रिश्वत।"

फिर भी बादशाह अमजद अली शाह कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर गये। उन्होंने हजरतगंज मौहल्ला आबाद किया जो आज शहर का आलीशान और आधुनिकता के रंग में रँगा बाजार है। पाँच लाख रुपये की लागत से लखनऊ, कानपुर तक 80 किलोमीटर लम्बी सड़क बनवाई।

लन्दन से एक लोहे का फ्रेम पुल बनवाने के लिए मंगवाया और गोमती नदी पर बना यह पुल "लोहे का पुल" नाम से मशहूर हुआ।

बादशाह 48 साल 5 मास 12 दिन की उम्र में, 12 फरवरी 1847 को इस बेदर्द दुनिया से कूच कर गए।

11. वाजिद अली शाह—12 फरवरी सन् 1847 को अवध के आखिरी बादशाह "वाजिद अली शाह" ने हुकूमत की लगाम अपने हाथों में थाम ली। वाजिद अली शाह का जन्म जून 1821 ई० अर्थात 10 ज़ीकाद हिजरी 1237 तदानुसार श्रावण शुक्ल की 12 सम्वत 1878 इन्द्रयोग 57 घड़ी 39 पल दिन मंगलवार को हुआ था।

बादशाह का जिस दिन राज्याभिषेक होना था उसी दिन ही अपशकुन हो गया। तख्त तक पहुँचने के लिए जो ज़ीना बना था वही टूट गया। अमीरुद्दौला मीर मेंहदीअली खाँ और नवाब अली नक़ी खाँ तसवीह फेरते हुए कमरे में आये। बादशाह ने कमरे में प्रवेश करने के बाद नमाज पढ़ी। फिर ताज लाया गया उसके बाद रेजिडेन्ट ने घोषणा की कि नवाब वली अहद बादशाह मुकर्रर हुए। बादशाह वाजिद अली शाह हुस्न के पुजारी थे। स्लीमन साहब लिखते हैं—उनकी माता मलका किश्वर की एक निहायत खूबसूरत बाँदी थी। एक दिन बादशाह कीनिगाह

उसके चेहरे पर पड़ी और वह उसके दीवाने हो गये। मल्का किश्वर इस बाँदी को बहुत चाहती थी और उसे हमेशा अपने साथ रखती, यहाँ तक कि बाँदी मल्का किश्वर के साथ ही सोती थी। किश्वर उसे अपने से अलग नहीं करना चाहती थीं। उन्होंने एक उपाय सोचा—एक दिन बादशाह से कहा कि यह औरत 'सांपू' है। ऐसी औरत के साथ यदि तुम रहे तो खानदान नष्ट हो जाएगा। 'सांपू' से तात्पर्य है गले में पीछे की तरफ साँप के सदृश घूमे हुए केश। इस तरह के केश प्राय. सभी स्त्रियों के होते हैं मगर मल्का किश्वर ने कुछ इस ढंग से कहा कि बादशाह के होश फाख्ता हो गये। उनको सनक सवार हुई कि शायद उनका स्वास्थ्य 'साँपू' औरतों के साथ रहने के कारण ही खराब हुआ है। बस उन्होंने हर बेगम की जाँच शुरू कर दी, "बेगम खास महल" को छोड़ कर। अब तो बड़ी आफत हो गयी ऐसे सर्पाकार केश सुलेमान महल, दारा बेगम, हजरत बेगम, निशात महल, हजरत महल, खुर्शीद महल, छोटी बेगम, बड़ी बेगम सभी में मिले फिर क्या था बादशाह ने इन सबको तलाक देने की इच्छा जाहिर की और आदेश दिया कि वे सब महल छोड़ कर चली जायें।

इसी बीच कुछ लोगों ने बादशाह से कहा क्यों न एक बार हिन्दू पण्डितों से पूछा जाए ? खैर वह भी हुआ। पण्डितों ने कह दिया कि उस सर्पाकार जगह को गर्म दहकते लोहे से दाग दिया जाए तो इससे यह दोष खत्म हो जाएगा।

बाकी छः बेगमों ने तो यह करवाने से साफ इनकार कर दिया मगर बड़ी और छोटी बेगम राजी हो गयीं। जिन लोगों को दागना था उन्हें पैसे देकर बेगमों ने अपनी ओर मिला लिया। अब सारी बेगमों ने साजिश बना कर शर्त मंजूर कर ली। इस कहानी को खत्म कर दिया गया। मलका किश्वर की इस युक्ति से ऐसी विकट समस्या उत्पन्न हो गयी थी। फिर भी उनकी प्रिय बाँदी तो बच गयी यही सोचकर उन्होंने चैन की साँस ली।

बादशाह नाच-गाने के बड़े शौकीन थे। वह 'इन्द्रसभा' के रचयिता थे और खुद इन्द्र बनते थे।

रासलीला के वक्त माहरुफ परी कन्हैया बनती थी और सुल्तान परी राधा। बादशाह कलाकारी को बड़ी अहमियत देते थे।

बादशाह वाजिद अली शाह ने जिस तरह तमाम समस्याओं से घिरे रहने के बाद भी अवध का शासन सम्भाला वह एक मिसाल है। हिन्दू-मुस्लिम दोनों के प्रति ही समान दृष्टि रखना, हिन्दुओं के त्योहारों में भी बाकायदा खुद ही हिस्सा लेना उनकी समान दृष्टि का उदाहरण है।

सर जेम्स वेयर हॉग को 28 अक्टूबर, 1825 को स्लीमन ने एक खत लिखा कि—"बादशाह अपने को सबसे अच्छा बादशाह और सबसे अच्छा शायर समझता है।" इसी प्रकार सर जेम्स को दूसरा खत 2 जनवरी, 1856 को लिखा था

कि—"होली के त्योहार पर (मैंने उसे) कई बार अपने गले में ढोल बाँध कर घूमते फिरते देखा—वह लखनऊ का सबसे बड़ा ढोलकिया बनना चाहता है।"

स्लीमन महोदय के बादशाह के सम्बन्ध में जो ख्यालात रहे वह एकदम गलत थे। उसे क्या मालूम कि बादशाह के इन कार्यों में भी एक इन्सानियत छुपी हुई है। उनमें हिन्दू धर्म के प्रति भी वही आदरभाव निहित था जो मुस्लिम धर्म के प्रति। स्लीमन तो बादशाह के हर काम में ऐब ढूँढ़ रहे थे तो अच्छाई कहाँ से नज़र आए।

कम्पनी सरकार की आँखों में वाजिद अलीशाह खटक रहे थे। वह उन्हें किसी भी तरह से हटाना चाहती थी। कम्पनी सरकार 1837 की सन्धि को ठुकरा कर पुन: 1801 की सन्धि पर आ गयी, जिसके अन्तर्गत बादशाह से दीवानी तथा सैनिक शासन पूरी तरह से ले लिया गया और रियासत की आमदनी में से जो रकम बचती वही ही बादशाह को गुजारे के लिये मिलती।

बाद में बेरहम कम्पनी सरकार ने उन्हें गद्दी ही छोड़ने का आदेश दे दिया। आउट्रम साहब बड़ी ही कृपा दृष्टि नवाब पर रखते हुए उन्हें समझाने गए कि "हम दिल्ली के बादशाह को सिर्फ एक लाख रुपया सालाना पेंशन दे रहे हैं, लेकिन आपको 12 लाख रुपये सालाना पेंशन और 3 लाख रुपया नौकरों पर होने वाला खर्च भी देंगे यानी कि 15 लाख। आप दिलकुशा कोठी में रहें साथ ही 7 (सात) मकान और ले लें—रमना कोठी, दिलकुशा, सिकन्दर बाग, शाह मंजिल बादशाह बाग, खुर्शीद मंजिल, मुबारक मंजिल। आपके खानदान की तनख्वाह भी कम्पनी देगी। जब तक आप जिन्दा रहेंगे आपका बादशाह का खिताब भी चलेगा। आपके बाद उत्तराधिकारी को केवल 12 लाख रुपया ही पेंशन मिलेगी।"

4 फरवरी, 1856 को कम्पनी के रेजिडेन्ट जनरल आउट्रम सुबह आठ बजे जर्द महल गए और अब्दुल मुजफ्फर नसिरुद्दीन सिकन्दर जाह बादशाहे आलिद, कैसरे-जमाँ, सुल्ताने आलम वाजिद अली शाह बादशाह को सूचना दी कि "अवध की आवाम पर एक अच्छे शासन के विचार से प्रेरित होकर कम्पनी सरकार ने शासन अपने अधिकार में ले लिया है।"

बादशाह को अपने अन्तिम दिनों में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर कलकत्ता भेज दिया था। जहाँ तमाम यातनाएँ दी गयीं। बादशाह ने 32 घण्टे तक खाना न खाया। मजबूर होकर बड़े लाट ने घर से बादशाह को खाना मंगाने की इजाजत दे दी। एक अंग्रेज सिपाही ने खाने तक की तलाशी ली। बादशाह ने उस खाने को भी ठुकरा दिया। 48 घण्टे तक उनके पेट में अनाज का एक दाना तक न गया।

बादशाह को जेल में ऐसी जगह रखा गया था कि जहाँ सड़न, बदबू और मच्छरों का साम्राज्य था। गोरे सिपाही तरह-तरह के अपशब्द कहते थे—रात में पहरा देते समय कहते 'तुम सोता है या मर गया।' दस दिनों तक बादशाह पर वड़ी सख्ती रही। बादशाह के चाहने वालों ने बड़ी कोशिशें की कि उन्हें किसी अच्छी जगह रखा जाए इतनी यातना न दी जाए। इसके लिए मौलवी मसीहुद्दीन लन्दन तक गए। तब कहीं उनको किले के भीतर ही बनी एक कोठी में रहने की इजाजत मिली।

9 जुलाई, शनिवार 1859 को बादशाह जेल से रिहा होकर घर तशरीफ़ लाये।

बादशाह के पास अब बचा ही क्या था ?

उनके खानदान के तमाम लोग लखनऊ में दहकी जंगे आजादी की लड़ाई में शहीद हो गए थे। जब वह जेल से छूटकर आए उनका शरीर खोखला हो चुका था। 17 जुलाई, 1859 को उन्होंने एक ख़त मुमताज महल के नाम भेजा—" 'अल्लहमदुल्लिलाह' कि तुम्हारी कल्बी कबूल हुई। मुसर्रत जावेद हुसूल हुई। यानी जुलाई की सातवीं तारीख हफ्ते के दिन बलाए नागहानी आफत आसमानी से नजात पाके अपने परोदगाह कदीम में आयें। उस दिन को शबे मेराज ऐशोनिशात कहना बजा है और ईद इशरत हमाबिसात समझना रवा है।"

बादशाह का 75 साल की उम्र में इन्तकाल हो गया।

महम्मद रमजान अली बिरजीस कदर—कम्पनी सरकार के अत्यारों ने अति कर दी थी। जनता त्राहि-त्राहि करने लगी और लोगों के दिलों में सुलग रहे ज्वालामुखी ने सन् 1857 को अपना भयावह रूप दिखा दिया। इसी जंगे आजादी के दौरान एक नया नाम उभरा 'बिरजीस कदर'। बिरजीस कदर बादशाह वाजिद अली के साहबजादे थे और नियमानुसार अवध के 12 वें बादशाह। अचानक 1857 की क्रान्ति ने उनको अवध का भावी शासक मुकर्रर कर दिया।

5 जुलाई 1857 की शाम का वक्त था। भयानक ढंग से मूसलाधार बारिश हो रही थी। ऐसे वातावरण में लाल बारादरी में बिरजीस कदर को नवाब वजीर सआदत अली खाँ की गद्दी पर बैठा कर उनका राज्याभिषेक हुआ। उस वक्त बिरजीस 11 साल का एक अबोध बालक था और इतनी बड़ी जिम्मेदारी उसके कन्धों पर डाल दी गयी। यह जिम्मेदारी उठाई अवध की शेरनी हजरत महल ने। बेगम ने राज्याभिषेक के दिन वहाँ मौजूद लोगों को एक-एक दोशाला व रूमाल भेंट किए। 7 जुलाई को शहर में घोषणा की गयी कि फौज के पुराने सिपाही पुनः अपने ओहदे पर बहाल किए जाते हैं।

बिरजीस कदर का दरबार 'चण्डीवाली बारादरी' में रोज होता रहा। इसके

अतिरिक्त सप्ताह में तीन बार यह दरबार तारावाली कोठी में होता था। 17 जुलाई, 1857 को बिरजीस कदर के नाम से बेगम हजरत महल ने घोषणा की कि—"मैंने तय कर लिया है कि अपनी पुश्तैनी रियासत से बेरहम काफिर फिरंगियों को निकाल बाहर करूँगा—जहाँ पर भी फिरंगी काफिर मिले, उन्हें मौत के घाट उतार दो।"

मगर दुर्भाग्य रहा क्रान्तिकारी पराजित हुए। 17 मार्च 1858 को बेगम हजरत महल अपने पुत्र बिरजीस कदर को लेकर मम्मू खाँ के साथ लखनऊ से बूँदी भाग गयीं। बूँदी से शाहजहाँपुर, बरेली और नेपाल जा पहुँची। 27 फरवरी 1858 को कप्तान निरंजन माँझी नेपाल के राणा जंगबहादुर का खत लेकर बेगम के पास आए। जिसमें लिखा था कि आप हमसे किसी प्रकार की कोई सहायता की उम्मीद न करें अंग्रेजों से सुलह कर लें। इस पर मम्मू खाँ ने उत्तर दिया "न हमें आपकी मदद चाहिए और न हम अंग्रेजों से मेल करेंगे।" राणा ऐसा जवाब पाकर बौखला गए और पुनः उत्तर दिया कि—तब तो एक ओर से अंग्रेज मारेंगे और दूसरी ओर से हम। इसके बाद नमक हराम राणा ने पानी और रसद तक रुकवा दी। मजबूर होकर यह महान जीवटवाली नारी जंगबहादुर से मिली। ऐसा कहते हैं उन्होंने अपने पास मौजूद बेशकीमती गहने राणा को दे दिए। इसके बाद राणा मान गया और 500 रुपये महीना पेंशन बाँध दी। अंग्रेज भी सन्तुष्ट थे कि चलो एक बला वहाँ कब्जे में तो है।

अंग्रेजों ने पत्र लिखकर कई बार लखनऊ आने का आग्रह किया और कहा कि वह बिरजीसकदर को सम्मान के साथ-साथ पेंशन भी देंगे। मगर बेगम हज़रत महल को फिरंगियों का दिया एक पैसा भी गंवारा न था।

उन्होंने अपने पुत्र के साथ काठमाण्डू में एक छोटा सा मकान ले लिया। शाही शानों शौकत से रहने वाली बेगम एक साधारण सी जिन्दगी बिताने लगीं।

उन्होंने 1869 में बिरजीस कदर की शादी दिल्ली के मिर्जा दाऊद बेग की लड़की से की। वह भी आजादी की लड़ाई के बाद नेपाल भाग गए थे। उनकी लड़की का नाम 'मुख्तारुन्निसाँ' था हज़रत महल ने उनका नाम 'महताब आरा बेगम' रखा।

बिरज़ीस कदर की आठ सन्ताने हुई—आगाजानी, हशमत आरा, शितवत आरा, बद्रकदर, जमाल आरा, खुर्शीद कदर, हुस्नआरा और मेहर कदर।

बिरजीस कदर भी अपने अब्बाजान की तरह शायर निकले। वह लखनऊ आने के लिए तड़पते रहे।

"मिट्टी खराब हो गयी नेपाल में तेरी।
रहता है क्यों मजारे इमामे मुबी से दूर ।।
मिल लूं शबे बिशाल में दिल खोल खोल कर।
या सबूत कर हिजाब बुते शरमगी से दूर ।।
कौनेन की नजात है बिरजीस सब हुसूल।
क्यों रह मजारे खुसखे दुनियाँ ओ दीं से दूर ।।"

इस प्रकार बिरजीस के साथ ही खत्म हो गयी कहानी 'नवाबीन-ए-अवध की।

1857 की जंगे आज़ादी और लखनऊ

सन् 1857 में जो आग भड़की उसकी पृष्ठभूमि अंग्रेजों ने स्वयं ही तैयार की थी। मेजर बर्ड के अनुसार, "कम्पनी सरकार के अधिकारी और कर्मचारी दोनों ही झूठे आरोप लगाकर लोगों की जमीनें हड़प लेते थे। सेना के गोरे सिपाही भारतीय औरतों के साथ बलात्कार करते, डाके डलवाते, हिन्दू-मुस्लिम दोनों को लड़वाते। सन् 1853 में इलाहाबाद और 1855 ई० में मुहर्रम के अवसर पर मुरादाबाद में दंगा करवाया गया। इससे पहले अवध में ऐसा कभी न हुआ था। कम्पनी सरकार डाकुओं, अराजक तत्वों को आश्रय देती थी। अवध में नवाबों के शासन काल में 8,000 आदमी बाहर से आकर बसे थे। मगर कम्पनी की हुकूमत शुरू होते ही 4000 लोग भूख प्यास से परेशान होकर लखनऊ छोड़कर चले गये।

"अवध की 50 लाख की जनसंख्या में सन् 1848 से 1884 के बीच तकरीबन हर साल 16,000 हत्याएँ और 200 डाके पड़ते थे। नवाबों का खूब शोषण हुआ।"

फैजाबाद में मोलवी अहमद उल्लाशाह को हिरासत में ले लिया गया। इस घटना से अवध और सुलग उठा। इसी बीच 18 अप्रैल 1857 ई० को अजीम उल्ला खाँ व पेशवा नानासाहब ने लखनऊ का दौरा किया। लखनऊ में उनका भव्य स्वागत हुआ। 'भारत में अंग्रेजी राज्य' पुस्तक के अनुसार "स्वागतार्थ चौक में सर्राफों ने सोने के आभूषणों से सजे द्वार बनाये थे। उसी दिन चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेंस जब आलीशान बग्घी पर सवार होकर शाम को सैर करने निकले तो किसी शहरी ने उन पर कीचड़ उछाला था।"

यह चर्चा भी जोरों पर थी कि सेना को जो कारतूस दिए जाते हैं उनमें चर्बी लगी है। 2 मई 1857 को मूसाबाग के सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र में 7 वीं अवध इर्रेगुलर सेना के सामने जब कारतूस आये तो हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने इन कारतूसों का इस्तेमाल करने से मना कर दिया। इनमें सिपाही गुलजार खाँ, भैरव सिंह, शिवदीन, मुगल बेग, सूबेदार सरनामसिंह मुख्य रहे। 3 मई सन् 1857 के

दिन मौका ताड़ कर इन लोगों ने अंग्रेजी फौजी अधिकारियों पर धावा बोल दिया। कारतूसों के कारण सुलगी आग का जिक्र 1273 हिजारी में नवाब वाजिद अली को लिखे गये एक पत्र में फरखन्दा महल ने भी किया।

"आप को चेहरये रौशन जो दिखा दें बखुदा।
बेकरारी दिले बेताब हरगिज़ न रहे।"

"मेहरों गुलजार, रैनाइये तदूर, को हसारे वेवफाई यजाद उल हुस्नऊ। यहाँ का अजीब हाल है। दिन दूनी रात वद अहवाल है। लखनऊ में ताज़ा रुहदाद हुई जिससे तबीयत कुछ-कुछ शाद हुई। आठवीं को इस महीने की यकशवा दोपहर से फौजे फिरंगी तकसीम पर कारतूसों से बिगड़ गई। जंगोजदल की ठहर गई। सब फौज मूसाबाग में ईसाइयों के कत्ल को यकजा हुई। अव्वल हैबतों पर हैबत गालिबेसिवा हुई। कितना मलदेमा फौज को समझाया लेकिन लोगों के ख्याल में न आया। आखिर इन अहमकों ने कई सौ योरोपियन निकाले और करीब शाम कत्ल की सिम्त को रवाना किया। ऐशबाग में 1500 आदमी जमा हो चुके थे। वक्ते तहरीर अब तक मजमा बहुत कसीर है। उलमाये आलम मुहम्मदी उठाने को है। देखिए क्या होती इसकी आखिर है। वेढव हुआ ये बिगाड़ है। अब तो ईसाइयों को मूसाबाग जाना पहाड़ है।"

गुप्त रूप से एक खत मडियाँव छावनी की 32 नं० की पलटन के भारतीय सैनिकों के पास भेजा गया। दुर्भाग्य रहा खत अंग्रेजों के हाथ लगा। खत पढ़ते ही अंग्रेज फौजी अधिकारियों के पैरों तले जमीन खिसक गयी। तुरन्त ही जिन सिपाहियों पर शक हुआ बन्दी बना लिया गया। शस्त्रागार और बारूदखाने पर अंग्रेजों ने सुरक्षा कड़ी कर दी। 4 मई 1857 ई० को मूसाबाग अंग्रेजों ने चारों ओर से घेर लिया। विद्रोही सिपाही अचानक हुई इस घेराबन्दी से घबरा गये। भगदड़ मच गयी। तमाम विद्रोही मारे गये। घायलों के सीनों पर घोड़े दौड़ा दिये गये। विद्रोहियों को पकड़-पकड़ कर फांसियाँ दी जाने लगीं। फांसियाँ लक्ष्मण टीले के करीब मच्छी भवन पर खुले आम दी गयीं। लाशें दिन भर फन्दे में लटकती रहीं। जिन्हें चील, और गिद्ध नोच-नोच कर खाते रहे। शाम को दूसरा कैदी लटकाया जाता।

गुप्त रूप से सभायें होती रहीं धीरे-धीरे आजादी के दीवाने एकजुट होते गये। क्रान्तिकारियों के एक संगठन का सर्वेसर्वा एक फकीर कादिर अली शाह था। उन्होंने काबुल में रह रहे अपने मित्र दोस्त मोहम्मद खाँ को एक खत लिखा जिसमें लखनऊ के इस संगठन की तैयारियों का जिक्र था। दोस्त मोहम्मद खाँ भी अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए उतावला था। खत अंग्रेजों के हाथ लगा। गुप्तचर इस संगठन की खोज में लगा दिये गये। इस गुप्त संगठन के अगुवा महमूद हुसैन खाँ, कमीदान और नवाब मुहसिनउद्दौला थे। संगठन में इनके प्रयासों से तकरीबन

20 हजार सैनिक भर्ती हो चुके थे। खुफिया सूचना पर महमूद हुसैन खाँ के घर की तलाशी ली गयी। तमाम हथियार मिले लेकिन फकीर कादिर अली हाथ न लगा। हुसैन ने कबूल किया कि हाँ ऐसा कोई एक संगठन है। इस संगठन द्वारा मुहर्रम की 10 वीं तारीख को अंग्रेजों के खिलाफ जंग छेड़ने की तैयारी थी इसी बीच यह सब गड़बड़ी हो गयी।

30 मई 1857 को मड़ियाँव छावनी के भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। हेनरी लारेन्स भारी सैन्यबल के साथ मड़ियाँव पहुँचा साथ ही उसने अपनी सेना का कुछ भाग बेलीगारद और मच्छी भवन पर तैनात कर दिया। मगर मड़ियाँव छावनी के विद्रोही सिपाही मुदकीपुर की विद्रोही सेना से मिल चुके थे। इसी बीच गोंडा और बहराइच को विद्रोहियों ने आजाद करा लिया था।

उधर 8 जून, सन् 1857 ई० को मौलवी मुहमद उल्लाशाह को फैजाबाद में भड़काये गये विद्रोह के आरोप में फाँसी की सजा सुना दी गयी। सरकार के इस निर्णय से शहर की जनता भड़क गयी। सूबेदार दिलीप सिंह सहित फैजाबाद में मौजूद अंग्रेजी सेना के देशी सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। तमाम अंग्रेज अफसर क़ैद कर लिये गये। अपार जन समूह ने जेल की दीवारें तोड़ डालीं। मौलवी साहब आजाद करा लिये गये। फैजाबाद पर अब विद्रोहियों का अधिकार हो गया। मौलवी साहब ने अंग्रेज अधिकारियों और उनके परिवार की स्त्रियों तथा बच्चों को सुरक्षित स्थान पर जाने के लिए रुपयों के साथ-साथ नावों का भी बन्दोबस्त कर दिया।

15 जून 1857 के बाद समूचे अवध से अंग्रेजी सत्ता खत्म हो गयी। अब बचा था लखनऊ। क्रान्तिकारियों की टोलियाँ आकर नवाबगंज में एकत्र होने लगी। कानपुर की विद्रोही सेना भी विजय श्री का वरण कर लखनऊ आ गयी थी। सारी सेनायें चिनहट में आकर रुक गयीं। जब यह समाचार हेनरी लारेन्स को मिला तो उसने सोचा कि विद्रोहियों का शहर में घुसने से पहले ही सफाया कर दिया जाए। उसने अंग्रेजी सेना को मच्छी भवन पर बुला लिया और युद्ध की तैयारी शुरू हो गयी।

30 जून, 1857 ई० को हेनरी लारेन्स और ब्रिगेडियर ईंगलिस अपनी सेनायें तथा तोपों के साथ स्माइलगंज पहुँचे ही थे कि आम के बाग में दोनों तरफ छुपी भारतीय फौज ने भीषण गोलाबारी की। अंग्रेजों के पैर उखड़ गये। इस ऐतिहासिक जीत का सेहरा बख्त अहमद, सूबेदार शहाबुद्दीन और सूबेदार घमण्डी सिंह के सिर पर बँधा।

विद्रोह सेना भी अंग्रेजी फौजों का पीछा करती शहर में प्रविष्ट हो गई और बेलीगारद को घेर लिया। चिन्हट विजय की खबर पाते ही दौलतखाना की इर्रे-गुलर पलटनों तथा इमामबाड़े की सेना ने भी विद्रोह कर दिया। गोरे अफसरों को

लूट लिया गया, अंग्रेज सिपाहियों को देखते ही गोली मार दी जाती थी। विद्रोही सेना का बादशाह बाग, कोठी फरहत बख्श, हजरत गंज, दिलकुशा, आसफी इमामबाड़े पर मजबूती से कब्जा हो चुका था।

मच्छी भवन पर फंसी अंग्रेजी-फौज के कमान्डर कर्नल पामर को बेलीगारद से हेनरी लारेन्स ने झन्डियों द्वारा इशारा कि वह रात में ही मच्छी भवन खाली कर दें। इसे खाली करते ही बारूद से उड़ा दिया जाय। रात 12 बजे अंग्रेजी फौजें गुप्त रास्ते से बेलीगारद आ गई। लेफ्टीनेन्ट टामस ने मच्छी भवन में बारूदी सुरंगें बिछा दीं। एक जोरदार धमाका हुआ और हमेशा-हमेशा के लिए शेखों के इस अजेय गढ़ की कहानी ही खत्म हो गई।

1 जुलाई 1857 को विद्रोही सैनिकों ने सैय्यद बरकत अली की देख-रेख में बेलीगारद पर धावा बोल दिया। 2 जुलाई को लारेन्स गोली लगने से घायल हुआ और 3 जुलाई को उसकी मृत्यु हो गई।

मौलवी अहमद उल्ला शाह भी फैजाबाद से लखनऊ अपनी सेना के साथ आ गये। वह चक्कर वाली कोठी में ठहरे। बेगम हजरत महल बिरजीस कदर के साथ मौलवी साहब के पास आईं और उनसे शाही फौज का सेनापति बनने का आग्रह किया। मगर मौलवी साहब ने यह कहकर इनकार कर दिया कि वह एक सिपाही की तरह ही अवध को आजाद कराना चाहते हैं।

20 जुलाई 1857 को बेलीगारद पर फिर आक्रमण हुआ। तमाम अंग्रेज सिपाहियों सहित लेफ्टीनेन्ट डी० सी० एलैक्जेंन्डर, कैप्टन ए० पी० साइमन भी मारे गये। मौलवी साहब ने बेलीगारद पर भीषण आक्रमण करने के लिए गोलागंज से कैसरबाग के बीच मिट्टी के ऊँचे टीलों पर तोपें चढ़वा दीं। जनरल हैवलाक जो कानपुर से अपनी सेना लेकर चल पड़ा था लखनऊ पहुँचने तक उसे उन्नाव, फतेहपुर, चौरासी, बशीरतगंज में जबरदस्त टक्कर लेनी पड़ी। अंग्रेजी सेनायें पीछे हटने लगीं मगर 3 अगस्त 1857 को और कुमुक आ जाने पर हैवलाक बशीरतगंज में विद्रोहियों को हराकर आगे बढ़ा। इस युद्ध में उसे इतनी हानि हो चुकी थी कि लखनऊ पहुँचना अपने आपको मौत के मुँह में ढकेलना था। वह चुपचाप कानपुर लौट गया।

10 अगस्त 1857 को विद्रोही सेना ने सुरंग उड़ाने में सफलता हासिल की। बेलीगारद की दीवार नष्ट हो गयी। विद्रोही सेना अन्दर प्रविष्ठ हो गयी, परन्तु 12 वीं बंगाली पलटन और फिरोजपुर छावनी की पलटनों की तोपों ने हिन्दुस्तानियों को पीछे हटा दिया।

8 सितम्बर 1857 को पुनः बेलीगारद पर हमला हुआ। इस बार भी यह हमला नाकाम हो गया। 20 सितम्बर सन् 1857 को हैवलाक पुनः कानपुर से लखनऊ के लिए रवाना हो गया। हैवलाक और आउट्रम ने कानपुर से लखनऊ के

बीच में हैवानियत का नंगा नाच किया। घरों से आग लगा दी गयी। फसलें चौपट कर दी गयीं, बच्चों को कत्ल कर दिया गया।

23 सितम्बर को आलमबाग में भयानक युद्ध हुआ। 25 सितम्बर को हैवलाक और आउट्रम आलमबाग़ का मोर्चा छोड़कर नहर गाज़ीउद्दीन को पार कर नाका हिंडोला होते हुए कैसरबाग़ की ओर बढ़ने लगे। क्रान्तिकारियों ने आलमबाग़ और मुख्य शहर के बीच बने पुल को ध्वस्त कर दिया। अंग्रेजों की आधी सेना आलमबाग़ में ही रह गई और जितनी सेना पार आ गयी थी वह कैसरबाग़ के उत्तरी पूर्वी क्षेत्र में प्रविष्ठ हो गयी। कैसरबाग़ में घमासान युद्ध हुआ। खुर्शीद मंजिल मोती महल और कैसरबाग़ की इमारतों पर चढ़ी तोपों ने ऐसा भीषण प्रलय किया कि चक्कर वाली कोठी से लेकर लाल बारादरी तक का क्षेत्र अंग्रेजी सेना के सैनिकों की लाशों से पट गया। शेर दरवाजे के करीब जनरल नील मारा गया। इसके साथ ही करीब 722 सिपाहियों की कब्र हिन्दुस्तानी विद्रोहियों ने बना दी। दो दिन तक जंग चलती रही। कैसरबाग़ बारूदी धुएँ से भर गया था। बची-खुची अंग्रेजी फौजें बेलीगारद व छतरमंजिल में पहुँच कर छिप गयीं। इस भागा-भाग में तमाम अंग्रेज सैनिक मारे गये।

इधर बुरी फँसी थीं आलमबाग़ में बच रही अंग्रेजी फौजें। इनका तो हाल त्रिशंकु की तरह था। पुल टूटने की वजह से वह न तो कैसरबाग़ की तरफ आ सकते थे और न ही आलमबाग़ से किसी तरफ जा सकते थे। मजबूरी में विद्रोहियों से टक्कर लेते रहे।

7 अक्टूबर सन् 1857 को मौलवी साहब ने आलमबाग़ पर जोरदार आक्रमण किया। इसी बीच आलमबाग में और अंग्रेजी सेना आ पहुँची। तोपों की मार के आगे 'डंकाशाह' उर्फ अहमद उल्लाशाह का बस न चला। 21 अक्टूबर को ब्रिगैडियर हौपग्रांट कानपुर से एक विशाल सेना लेकर बंथरा होता हुआ अपनी फौज से आ मिला। उधर कैम्पबेल भी कर्नल हीरोज के साथ भारी सैन्यबल लेकर इंग्लैण्ड से भारत पहुँच गया था।

9 नवम्बर 1847 को वह लखनऊ पहुँचा, मगर सेना सहित शहर के बाहर ही रुक गया, जनरल आउट्रम ने दो देशद्रोहियों अंगद तिवारी और कन्नौजी लाल की सहायता से आयरलैंण्ड के कुआनानांग को भेष बदलकर बेलीगारद से कैम्पबेल के पास भेजा। इस शख्स के पास लखनऊ शहर में जगह-जगह पर मोर्चा बन्दी किये विद्रोही सैनिकों के ठिकानों का नक्शा था।

कैम्पबेल ने जब नक्शा देखा तो उसके होश फाख्ता हो गये। क्योंकि लखनऊ को विद्रोही सेना ने पूरी तरह से घेर रखा था। फतह अली के तालाब से नाका-हिंडोला, तालकटोरा की करबला, दिलकुशा से शाहनजफ तक विद्रोहियों ने अपने

मजबूत मोर्चे बना रखे थे। कैम्पबेल को एक ही मोर्चा कमजोर नज़र आया आलमबाग।

14 नवम्बर 1857 को कैम्पबेल आलमबाग की ओर बढ़ा। आलमबाग पर कब्जा कर दिलकुशा आ गया। दिलकुशा में विद्रोही सैनिकों द्वारा धुआधार की जा रही गोलाबारी के कारण वह आगे न बढ़ सका। इधर कैम्पवेल को मोती महल आकर हैव्लक और आउट्रम से मिलना भी था। मोती महल तक पहुँचना कठिन था। बेगम कोठी होते हुए उसने 16 नवम्बर को सिकन्दर बाग़ पर धावा बोल दिया।

सिकन्दर बाग़ पर बहादुर शाह जफर और वाजिद अली शाह के झण्डे फहरा रहे थे।

दो हजार सिपाहियों ने गंगाजली और कुरानेपाक उठाकर आजादी के लिए मर मिटने की कसमें खायीं थीं। यहाँ एकत्र सेना का नेतृत्व रिसालदार सैय्यद बरकत अहमद कर रहे थे। विद्रोहियों ने दीवारों में बन्दूकों व तोपों की नाल के बराबर सुराख बना रखे थे। बाग में घुसने के लिए एक ही दरवाजा था। अंग्रेजी फौज पर सिकन्दर बाग़ से लगातार गोले बरसाये जा रहे थे। कौलिंग कैम्पबेल को इसी बीच एक गोली लगी। खुदा का शुक्र था कि वह उसकी सेना के एक तोपची को सुलाकर आयी थी। कैम्पवेल चोट खाकर ही रह गया। फिरंगी हर हालत में सिकन्दर बाग़ की दक्षिणी-पूर्वी दीवार गिराना चाहते थे। दीवार गिरने के चक्कर में 14 गोरे सिपाही व तोपखाने का कैप्टन हार्डी मारा गया। आधे घण्टे बाद जान पर खेल कर दीवार में तीन फुट चौड़ी दरार बन पायी। सबसे पहले स्काटलैण्ड का एक सिपाही अन्दर घुसा लेकिन मारा गया। इसी बीच किसी सैनिक ने सिकन्दर बाग़ का मुख्य द्वार खोल दिया। फिर तो जो जंग शुरू हुई कि दिल दहल गये। सिकन्दर बाग़ के एक ओर से इवार्ट नाम का एक फौजी आफीसर सेना लेकर बढ़ रहा था। भारतीय सैनिकों ने पहले तो गोलाबारी न की जैसे ही पास आया गोलियों की बौछार शुरू कर दी। कई सैनिक मारे गये "मैलीसन" के अनुसार अंग्रेजी सेना भीतर तो घुस आयी थी लेकिन हर जगह हर कोने व कमरे पर अधिकार करने के लिए उन्हें जूझना पड़ा। गफ़ के अनुसार 1700 भारतीय सैनिक शहीद हो गये।

17 नवम्बर 1857 को शाहनजफ, कदम रसूल और मोती बाग़ में भयानक युद्ध हुए। शाहनजफ के आस-पास जंगल थे। जब अंग्रेजी सेना इस ओर बढ़ रही थी, तभी अचानक पेड़ों के पीछे से उन पर आक्रमण हो गया। तमाम सैनिक मारे गये। मेजर बोन्स्टैन तोप दस्ते को लिए आगे बढ़ रहा था, मगर अपने ही दस्ते की तोप का गोला लगने से बुरी तरह घायल हो गया और कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी। अंग्रेजी फौजें पीछे हटने लगीं। पैदल सैना की अतिरिक्त कुमुक आ जाने

से अंग्रेजी फौजों के हौसले पुन: बुलन्द हो गये। फौजें आगे बढ़ने लगीं। भारतीय सैनिकों द्वारा गोलाबारी की बाढ़ जारी थी। मजबूर होकर फिर पीछे हटना पड़ना।

गोमती नदी के उस पार से कोई आजादी का दीवाना एक तोप लिये गोले बरसा रहे था। पहला गोला ही अंग्रेजों की गोले बारूद से भरी गाड़ी पर गिरा। एक भयानक विस्फोट हुआ। तमाम सैनिकों की धज्जियाँ उड़ गयीं। कौलिंग कम्बेल ने विवश होकर सेना को आगे बढ़ने के आदेश दिये। अंग्रेजी फौजें आगे बढ़ने लगीं, मगर जिस रास्ते सेना आगे बढ़ रही थी वह उनकी लाशों से पटता जा रहा था। कोई चारा न देखकर राकेटों से हमला किया गया। राकेट हमले ने रंग दिखाया। अंग्रेजी फौजों को शाहनजफ के भीतर घुसने का रास्ता मिल गया, मगर विजय अधूरी रही। विद्रोही सैनिक पहले ही वहाँ से निकल कर भाग चुके थे। शाहनजफ छोड़कर भागे विद्रोही सैनिकों ने दूसरी ओर से हमला कर दिया। इस हमले से भी अंग्रेजों को बड़ा नुकसान हुआ, पर शाहनजफ हाथ से न गया।

शाहनजफ और कदम रसूल के बीच क्रान्तिकारियों ने एक बारूदी सुरंग बिछा रखी थी। एक सैनिक को इसका पता लगा फौरन कमाण्डर को सूचित किया गया सुरंग हटा दी गयी। सुरंग का हटाना ही था कि एक गोला वहीं आकर गिरा। यदि यह सुरंग न हटी होती तो आधे से ज्यादा अंग्रेजी फौज दफन हो जाती।

मोती बाग़ में भी घोर संघर्ष हुआ। हैवलाक, सिटवेल, रसेल जब कैम्पवेल से मिलने मोती महल जा रहे थे तो कैसरबाग़ के करीब अपने कई सैनिकों सहित मारे गये। कैसरबाग़ पर फतह करना अब अंग्रेजों के लिए निहायत जरूरी था। मगर अधिकार करना आसान न था। यहाँ प्रवेश करने के लिए अंग्रेजी फौजों को कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

18 नवम्बर 1857 को मौलवी अहमद उल्लाशाह बेलीगारद के मोर्चे पर डटे थे। दिन भर दोनों तरफ से गोला गोलाबारी होती रही। कैम्पवेल 130 फौजी अफसर, 700 भारतीय सिपाही, 740 अंग्रेजी सिपाही, 237 अंग्रेज औरतें, 50 लामार्टीनियर के छात्र, 260 बच्चे, 700 असैनिक तथा 27 अन्य अंग्रेजों को जो कि 2 मास से विद्रोहियों के घेरे में घिरे भूखों मरने की कगार पर थे उन्हें लेकर वह सिकन्दर बाग़ और दिलकुशा के रास्ते से लखनऊ शहर के बाहर निकल गया।

कैम्पबेल बेलीगराद छोड़कर जलालाबाद में आ रुका था। आलमबाग़ में आउट्रम मोर्चा जमाये था। 21 दिसम्बर 1857 को 'डंकाशाह' के नेतृत्व में विद्रोहियो ने 'गोली' व 'बारूद' में अपने मोर्चों बाँध लिये। 22 दिसम्बर को जब यह खबर आउट्रम को मिली तो वह नौ पौंड के गोले फेकने वाली 6 तोपे, 190 घुड़सवार, 1247 पैदल सैनिकों को लेकर सुबह वहाँ पहुँच गया। घमासान

युद्ध हुआ। विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा। 12 जनवरी 1858 को आलम बाग़ में शाम चार बजे तक जंग हुई। यहाँ भी विद्रोही पराजित हुए।

कर्नल मालसेन ने लिखा है कि लखनऊ के पंडितों ने यह भविष्य वाणी की थी कि अगर अंग्रेजी फौजें 12 जनवरी 1858 से 8 दिन के अन्दर याने कि 20 जनवरी 1858 तक अवध से बाहर नहीं कर दी गयीं तो यह प्रान्त कई सालों के लिए दोबारा गुलाम हो जाएगा।

13, 14 और 15 जनवरी को कोई युद्ध न हुआ। 16 जनवरी को अहमद उल्लाशाह ने कानपुर से आने वाली रसद पर छापा मारने की एक योजना तैयार की। मालसेन के अनुसार खुफिया सूत्रों से आउट्रम को यह जानकारी मिल गयी। लूट की योजना पर पानी फिर गया। विद्रोहियों की शक्ति क्षीण हो गयी थी। 22 जनवरी 1858 को मौलवी साहब व बेगम हजरत महल के सैनिकों में झड़प हो गयी। सौ से अधिक सिपाही इस झड़प में मारे गये। मौलवी साहब को बन्दी बना लिया गया। बाद में आदर के साथ उन्हें छोड़ दिया गया।

15 फरवरी 1858 को मौलवी साहब और अंग्रेजी सेना में फिर लड़ाई हुई। 16 फरवरी को पुनः मौलवी जी ने आलमबाग़ पर धावा बोला। अंग्रेजी सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी। लेकिन अन्त में विजय अंग्रेजों की हुई। 21 फरवरी दिन रविवार को अंग्रेजी फौज जब एक गिरजे में प्रार्थना कर रही थी। विद्रोहियों ने अचानक आक्रमण कर दिया। एकाएक हुए इस हमले से तमाम अंग्रेज सिपाही मारे गये। 25 फरवरी 1858 को मूसाबाग़ में लड़ाई हुई। 29 जनवरी को कानपुर गया कैम्पबेल 1 मार्च 1858 को पुनः लखनऊ लौटा। 3 मार्च 1858 को लामार्टीनियर कालेज में उसे विद्रोहियों से लोहा लेना पड़ा। 6 मार्च से 15 मार्च सन् 1858 तक घमासान लड़ाई जारी रही। जनरल बख्श खाँ चक्कर वाली कोठी में मोर्चा सम्भाले थे। मोहम्मद इब्राहीम खाँ व मौलवी साहब अपने-अपने मोर्चों पर 15 मार्च तक जूझते रहे।

अन्त में अंग्रेजों ने पूरी तरह से लखनऊ पर अधिकार कर लिया। इसके बाद इस कदर लूट-पाट, आगजनी, हत्याएँ, बलात्कार हुए कि लोगों की रूह तक काँप गई। कैसरबाग़ बुरी तरह से लूटा गया। विद्रोहियों को सरे आम फाँसी पर लटका दिया गया। बच्चों को गोली मार दी गई। देशद्रोही कुत्तों को इनाम मिले। विद्रोह में कूदने वाले या उनका साथ देने वाले जमीदारों और ताल्लुकेदारों की जागीरें छीन ली गईं।

जंगे आज़ादी के रणबांकुरे

क्या-क्या न ढाये जुल्मों सितम इन फिरंगियों ने भारतीयों पर। विद्रोह शुरू होते ही तमाम लोगों को जानवरों की तरह जेलों में ठूँस दिया गया। अनेक लोग नज़रबन्द कर दिये गये। तुलसीपुर के राजा दृगविजय सिंह एक साल तक नज़रबन्द रहे। बीमार हो गये इलाज न होने की वजह से दिलकुशा में मृत्यु हो गयी। दिल्ली में भी विद्रोह हो जाने के कारण शाहजादे मिर्ज़ा मोहम्मद शिकोह और मिर्ज़ा हैदर शिकोह लखनऊ भाग आये थे मगर यहाँ आते ही इन्हें भी नज़रबन्द कर दिया गया।

नवाब सआदत अली खाँ के साहबज़ादे मिर्ज़ा मोहम्मद हसन खाँ वेलीगारद में नज़रबन्द थे। हैजा हो जाने के कारण उनका इन्तकाल हो गया। मरने के बाद उन्हें शहीदमर्द की कब्र के करीब ही वेलीगारद में दफन कर दिया था।

नवाब वाजिद अली शाह के भाई जान मुस्तफा अली भी वेलीगारद में नज़रबन्द थे।

सन् 1857 की इस जंगे आज़ादी में अवध के ताल्लुकेदारों व ज़मीदारों ने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया। सैय्यद कमालुद्दीन के अनुसार गोण्डा के राजा देवी बख्श सिंह 3000 सैनिक, गोसाईगंज के जमीदार और ताल्लुकेदार आनन्द जी एवं खुशहाल जी 4000 सैनिक, सेमररौता चन्दापुर के राजा शिवदर्शन सिंह 10,000 सैनिक लेकर लखनऊ आये। जमींदार राम बख्श 3 तोपें और 2000 घुड़सवार सैनिक, अमेठी के राजा लाला माधो सिंह 4 तोपें 200 घुड़सवार सैनिक 5000 पैदल सेना, रसूलाबाद के चौधरी मीरमन्सब अली 1000 सैनिकों, खझूर गाँव के राणा रघुनाथ सिंह 4 तोपें और 2000 सैनिकों के साथ, संडीला के चौधरी हश्मत 4000 सैनिक, बैसवारा के ताल्लुकेदार राणा बेणीमाधव बख्शसिंह 5 तोपों और 5000 सैनिक, राजा नानपारा के कारिन्दा कल्लू खाँ 10,000 सैनिक लेकर लखनऊ आ गये थे। (गदर के फूल)

इस प्रकार ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों की संयुक्त सेना 46,200 थी। इसमें विद्रोही सैनिक और मौलवी अहमद उल्लाशाह के जत्थे के सैनिक सम्मिलित

नहीं हैं। पं० देवीदत्त शुक्ल की किताब 'अवध के गदर का इतिहास' से जो जानकारी हासिल होती है उससे पता चला है कि लखनऊ में एकत्र हुई ताल्लुकेदारों, जमींदारों, विद्रोही सैनिकों तथा विभिन्न विद्रोही संगठनों के सैनिकों को मिलाकर यह संख्या 1 लाख 50 हजार थी।

तबस्सुम निजामी भारतीय की किताब 'लखऊन जनपद का राष्ट्रीय इतिहास' से प्राप्त जानकारी के अनुसार सैनिकों की यह संख्या 1 लाख 20 हज़ार थी।

अंग्रेजी सत्ता को हटाने के लिए आज़ादी के दीवानों ने कोई कसर न रख छोड़ी थी। उन्होंने सब कुछ सहा मगर गुलामी की जंजीरों से जकड़ कर रहना गँवारा न किया। वह अपने लिये नहीं, आने वाली पीढ़ियों की खुशहाली के लिए मिट गये। उनमें से कुछ भूले बिसरे लोगों का विवरण पेश है।

अजीम उल्ला खाँ—लखनऊ में विद्रोह की आग सुलगाने में अजीम उल्ला खाँ ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। 18 अप्रैल 1857 को वह पेशवा नाना साहब के साथ लखनऊ आये थे। लखनऊ में उनका भव्य स्वागत हुआ। अजीम उल्ला खाँ का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने शुरू में एक अंग्रेज आफिसर के घर में खानसामे की नौकरी की। बाद में वह कानपुर के एक स्कूल में पढ़ाने लगे। उस वक्त नाना साहब बिठूर में रहा करते थे। कम्पनी सरकार की पेंशन ही नाना साहब की आजीविका का साधन थी। कम्पनी सरकार को यह 8 लाख की पेंशन देना भी गँवारा न हुआ।

नाना साहब अजीम उल्ला खाँ को बहुत चाहते थे। पेशवा नाना साहब ने उनको यह उत्तरदायित्व सौंपा कि वह लन्दन जाकर मलका विक्टोरिया से मिलें और कम्पनी सरकार द्वारा उनके प्रति अख्तियार किया गया रवैया बतायें।

अजीम उल्ला खाँ लन्दन गये मगर सब व्यर्थ रहा। जब खाँ साहब लन्दन में थे वहीं सतारा रियासत के महाराजा के वकील 'रंगोजी बापू' से उनकी मुलाकात हुई। सतारा की रियासत भी अंग्रेजों ने डकार ली थी। रंगोजी बापू ने भी न्याय माँगा, बड़ी प्रार्थना की पर सब बेकार गया। अजीम उल्ला व रंगोजी बापू दोनों चोट खाये साँप हो गये थे। यहीं से योजना बननी शुरू हो गयी अंग्रेजों को अवध से ही नहीं देश से बाहर करने की। खाँ साहब ने फ्राँस, रूस, इटली आदि तमाम मुल्कों का दौरा किया जो कि ब्रिटिश विरोधी थे। इसका उद्देश्य विदेशों से सहायता प्राप्त करना था। रंगोजी बापू ने अवध आकर राजाओं, ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों को संगठित किया।

खाँ साहब भारत आये और झाँसी, लखनऊ, अम्बाला, मेरठ आदि जिलों की महत्वपूर्ण यात्राएँ की। गुप्त रूप से क्रान्तिकारियों की बैठकें हुईं। 31 मई, 1857 को एक साथ अंग्रेजों के खिलाफ जंग छेड़ना तय हुआ। पर उतावलेपन में सब गड़बड़ हो गया।

जंग पहले ही शुरू हो गयी। नाना साहब और अजीम उल्ला खाँ ने अंग्रेजों से भीषण टक्कर ली। अन्त तक यह दोनों ही महान क्रान्तिकारी अंग्रेजों के हाथ न लगे। लेकिन यह एकाएक कहाँ लोप हो गये इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है।

मौलवी अहमद उल्ला शाह—मौलवी साहब की दोनों सम्प्रदायों के लोग बड़ी इज़्ज़त करते थे। फैजाबाद में गिरफ्तारी के बाद जब 8 जून, 1857 को उन्हें फाँसी की सजा सुनायी गयी तो जनता भड़क गयी और विद्रोह कर दिया। जेल पर हमला कर मौलवी साहब को छुड़ा लिया गया। हजारों की संख्या में फिरंगी मारकर फैजाबाद में बिछा दिये गये। मौलवी साहब फैजाबाद को आजाद कराने के बाद लखनऊ आ गये।

वह पहले आगामीर की सराय में रहते थे। बाद में घसियारी मण्डी में रहने लगे। मौलवी साहब 'डंकाशाह' और 'नक्कार शाह' के नाम से मशहूर थे। उनका यह नाम इसलिए पड़ा कि जब वह चलते थे तो आगे-आगे एक नक्कारा बजता चलता था। 'शैदा बेगम' ने वाजिद अलीशाह को अपने लिये एक खत में मौलवी साहब की कारगुज़ारियों का ज़िक्र किया था।

"पिया जाने आलम, जब से आप लखनऊ से सिधारे ख्वाब हराम है। रोना-धोना मुदाम है। यहाँ शबोरोज अहोबुकाँ में गुज़रती है, मगर दूसरी मेरी हमजिन्सें खुश-खुश इठलाती फिरती हैं। आपके बाद से फिरंगियों के खिलाफ ज़हर उगला जा रहा है। नयी-नयी बातें सुनने में आ रही हैं। दिल में होल है कि देखिये फलक क्या-क्या रंग दिखलाता है। घास मण्डी में मौलवियों का अभाव है। सुना है कि एक सूफी अहमदुल्ला शाह आये हैं। नवाब चीनीटीन के साहबजादे कहलाते हैं। आगरे से आये हैं। ये भी सुना है कि उनके हजारहाँ मुरीद हैं।"

उन्होंने अपनी अन्तिम लड़ाई केवल 2 तोपों से 21 मार्च, 1858 को सआदतगंज के मोर्चे पर लड़ी थी। लखनऊ छोड़कर जब वह भागे तो करीब 6 मील तक उनका पीछा किया गया मगर मौलवी साहब किसी के हाथ न लगे। 'कैसरउल तवारीख' के अनुसार डंकाशाह ने आधे लखनऊ पर अधिकार कर लिया था और जगह-जगह फौजी चौकियाँ बना ली थीं।

लखनऊ से हार कर भी यह साहसी चुप न बैठा। शाहजहाँपुर पहुँचकर रुहेलखण्ड के जवानों का नेतृत्व किया और अंग्रेजों से टक्कर ली लेकिन हार गये। शाहजहाँपुर से भागना पड़ा। 16 मई, 1858 को वह मुहम्मदी (जिला लखीमपुर) पहुँच गये। मुहम्मदी में भी लोगों को उकसाकर अंग्रेजों से टक्कर ली यहाँ भी हार ही नसीब हुई। अब एक ही रास्ता था पुंवाया के राजा जगन्नाथ सिंह से सैनिक सहयोग। जगन्नाथ सिंह से वैसे तो उनकी पुरानी दुश्मनी थी लेकिन सोचा मुसीबत के वक्त शायद यह दुश्मन दोस्त बन जाये। जगन्नाथ ने उन्हें अपने किले

में बुलवाया। किले में घुसते ही राजा ने फाटक बन्द कर दिया। डंकाशाह चारों तरफ से घिर चुके थे। उन्हें खतरे का आभास हुआ। हाथी के मस्तक से किले का फाटक तोड़ दिया परन्तु भाग न सके। राजा के भाई ने पीछे से गोली मार दी। मौलवी साहब शहीद हो गए। उनका गला काट दिया गया। इस सफलता पर खुश होकर जिलाधीश ने जगन्नाथ को 50 हजार रुपये इनाम दिया।

7 जून, 1858 को शाहजहाँपुर में उनका कटा सिर घुमाया गया। कई दिनों तक कोतवाली से बाहर सिर लटका रहा, बाद में मौजा जहानगंज में कटा सिर दफना दिया गया। जिस्म को अंग्रेजों ने पहले ही जला दिया था।

बेगम हजरत महल—अवध के पहले सूबेदार शुजाउद्दौला की हुकूमत के दौरान एक शख्स दिल्ली से फैजाबाद आया। वह शिया था। जिसका नाम मोहम्मद अली शाह था। शाह के पूर्वज सिपाही का ही पेशा करते थे सो इसने भी सिपाही बनना ही उचित समझा और अवध की सेना से भर्ती हो गया।

नवाब अमजद अलीशाह के शासनकाल में अली अहद जाने आलम नवाब वाजिद अलीशाह ने एक परी खाने की स्थापना की थी। इस परीखाने की निगरानी के लिए महिला दरोगा नजमुन निसा थीं। इसी सिपाही मोहम्मद अली शाह के खानदान की अठारह साल की लड़की 'मोहम्मदी खानम' भी इस परीखाने में दाखिल हुई।

ऐसा कहा जाता है कि उस समय सैय्यदों की तरह इस लड़की के बदन से भी खुशबू आती थी। इसलिए बली अहद ने उसे महक परी का खिताब दिया।

महक परी को यह रोज-ब-रोज पायलों की झनकार तबले की ताल ज्यादा पसन्द न थी। उनका वली अहद वाजिद अली शाह से निकाह हो गया। शादी के बाद उन्हें शाही नाम हासिल हुआ 'हजरत महल'।

हजरत महल माँ बनने वाली हैं जब यह खुशखबरी शाह के कानों तक पहुँची तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। वाजिद अलीशाह ने उन्हें 'इफ्तखार उन्निसाँ खानम्' की उपाधि दी।

सन् 1847 ई० को वाजिद अली शाह अवध के बादशाह बने। उनकी ताजपोशी का जश्न मनाया गया। कुछ दिनों बाद वह घड़ी भी आ गयी जिसका बादशाह को बड़ी बेसब्री से इन्तिजार था। बेगम हजरत महल ने एक पुत्र को जन्म दिया। इसका नाम 'रमजान अली खान' रखा गया। अमजद अलीशाह ने इस बालक को बिरजिस क़दर का लकब दे दिया।

सन् 1856 में अंग्रेजों ने नवाब वाजिद अलीशाह पर कुशासन का आरोप लगाकर उन्हें गद्दी से हटा दिया। बेगम हजरत महल ने 5 जुलाई, 1857 ई० को अपने साहबजादे बिरजीस कदर की ताजपोशी कर दी। चूंकि बिरजीस अभी

बहुत छोटा था इसलिए क्रान्तिकारियों के नेतृत्व की सारी जिम्मेदारी बेगम हज़रत महल ने संभाली।

अंग्रेज इस महिला से इतना खौफ खा गये थे। उन्होंने हज़रत महल को एक सन्देश भिजवाया कि यदि आप युद्ध खत्म कर दें तो आपका राज्य आपको वापस दे दिया जायेगा।

मगर वीरांगना बेगम हज़रत महल ने इस सन्देश को ठोकर मार दी और अपने पुत्र बिरजीस क़दर की ओर से घोषणा की कि—"हर एक हिन्दू और मुसलमान को यह मालूम है कि चार चीजें हरेक इन्सान को बड़ी प्रिय होती हैं मजहब, इज्जत, जिन्दगी और दौलत। पर इन चीजों की रक्षा केवल देशी शासन में ही हो सकती है। देशी हुकूमत में पूरी धार्मिक सहिष्णुता रहती है। सभी जाति के लोग बराबर होते हैं। छोटी जाति के धोबी, चमार, धानुक, सब बराबरी का दावा करने के हकदार हैं। अंग्रेज इन चीजों के शत्रु हैं—वे सम्मानित लोगों को फाँसी लगा देते हैं। घर की औरतों और बच्चों को बरबाद कर देते हैं। स्त्रियों की इज्जत लूट लेते हैं। सारा सामान लूट ले जाते हैं। मकान खोद कर फेंक देते हैं। बनियों और महाजनों को जान से ही नहीं मारते बल्कि उनकी सम्पत्ति भी लूट ले जाते हैं—इसलिए हरेक हिन्दू तथा मुसलमान को चेतावनी दी जाती है कि अगर तुम अपने दीन और ईमान की रक्षा करना चाहते हो तो फिरंगियों के चक्कर में मत आओ। उन्हें पनाह मत दो, हमारी सरकार की फौज में शामिल हो और युद्ध करो।"

बेगम हजरतमहल ने अपने पति के जिन्दा रहते अपने लड़के बिरजीस क़दर को 'बादशाह' तक न कहा। मिर्ज़ा अब्बास इस जंगे आजादी को और बढ़ाने के लिए बिरजीस कदर को लेकर दिल्ली पहुँचे। बहादुरशाह ज़फर ने बिरजीस क़दर को सनद भी दी और 'सफीरुद्दौला' का खिताब भी।

पर दुर्भाग्य के बादल फिर मंडराये। उसी दिन फिरंगियों की सेना दिल्ली शहर के अन्दर प्रवेश करने में सफल हुई। मिर्जा अब्बास किसी तरह से जान बचाकर बिरजीस कदर को लेते हुए लखनऊ आ गये। इसी बीच हज करके वापस आ रहे फिरोजशाह को गदर की सूचना इन्दौर में मिली।

फिरोजशाह बादशाह फरुखसियर के नाती और मिर्जा नाज़िम वख्त के साहबजादे थे। उन्होंने एक फरमान जारी कर लोगों से एकजुट होकर जंगे आजादी में कूद पड़ने की अपील की।

बेगम हज़रत महल बड़ी ही होशियार और दूरदर्शी महिला थी। कम्पनी सरकार की ओर से गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने क्रान्तिकारियों से सुलह करने को कहा तो बेगम हजरत महल ने एक फरमान जारी करके इन वादा खिलाफी लुटेरे फिरंगियों के बहकावे में न आने की अपील की—"जो लोग समझते हैं कि

उनको माफ कर दिया जाएगा—फिरंगियों ने माफ़ करना कभी नहीं सीखा—लोग इस धोखे में न रहें—भरतपुर के राजा को पुत्र सदृश मानने का बहाना बनाकर उनका राज्य हड़प लिया। लाहौर के राजा को लन्दन उठा ले गये—अगर बादशाह वाजिद अली शाह से प्रजा खुश नहीं थी तो हमसे क्यों सन्तुष्ट हैं?—तो फिर हमारी रियासत हमें क्यों नहीं वापस दे देते—चाहे दोषी हो या निर्दोष, कोई बच नहीं सकता।"

जंगे आजादी में यह शेरनी खूब लड़ी, मगर भाग्य ने साथ नहीं दिया। हजरत महल को लखनऊ छोड़कर नेपाल भागना पड़ा। वहाँ भी वह शान्त नहीं बैठी। मम्मू खाँ को नेपाल से तुलसीपुर भेजकर क्रान्तिकारियों को दोबारा एकत्र करने का प्रयास किया। अफसोस मम्मू खाँ पकड़े गए। उनको फाँसी भी हो गयी। बाद में अंग्रेज सरकार की ओर से बेगम हजरत महल के पास यह सन्देश आया कि आप वापस लखनऊ आ जाएँ। वजीफा मिलेगा, शाही सम्मान मिलेगा। परन्तु एक स्वाभिमानी की भाँति उन्होंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

सन् 1874 ई० में बेगम हजरतमहल का देहान्त हो गया। काठमाण्डू की एक मस्जिद के कब्रिस्तान में आज वह चिर निद्रा में सोई हैं।

राजा दुर्ग विजयसिंह—यह मोहान के ताल्लुकेदार थे। बेलीगारद के मोर्चे पर वीरतापूर्वक लड़े। बाद में अपनी सेना के साथ उमरगढ़ लौट गये जहाँ आठ महीने तक अंग्रेजी फौजों से जूझते रहे। मौलवी साहब से उनकी बड़ी अच्छी दोस्ती थी। अवध के चीफ कमिश्नर ने उन्हें कई बार पत्र लिखा कि वह अंग्रेजों से मिल जाये। अनेक लालच दिये गये। दुर्ग विजय सिंह ने इन सबको ठुकरा दिया।

उनके साथ एक रसोइये ने इनाम के लालच में विश्वासघात किया। वह गिरफ्तार कर लिये गये। सारी जायदाद अंग्रेजों ने जब्त कर ली। 21 अगस्त 1865 को उन्हें काले पानी की सजा हो गयी। सन् 1889 में वह इस दुनिया से चल बसे।

राजा दुर्ग विजय सिंह बेगम हजरत महल की बड़ी इज्जत करते थे। जब बेगम लखनऊ छोड़कर जाने लगीं तो वह उन्हें नेपाल की सीमा तक छोड़ने गये। रोते हुए बेगम हजरत महल को बिदा किया।

शेख खादिम अली—यह मोहान गढ़ के गोलंदाज थे। आजादी की लड़ाई में उन्होंने अपना सब कुछ गंवा दिया। उनका भतीजा अब्बास अली बेलीगारद के मोर्चे पर घायल हुआ। शेख खादिम अली के दोनों भाई मसाहिब अली और अमीर अली ने अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया। स्वयं शेख खादिम बेलीगारद के मोर्चे पर बड़ी बहादुरी से लड़े।

अली मोहम्मद खाँ—अली मोहम्मद खाँ उर्फ 'मम्मू खाँ' बेगम हजरत महल के 'कामदार' थे। जितना साथ उन्होंने बेगम साहिबा का निभाया उतना शायद

किसी और ने नहीं। मम्मू खाँ बेगम हजरत महल के साथ ही नेपाल चले गये। वहाँ भी लखनऊ की यह शेरनी चुप न बैठी। मम्मू खाँ को नेपाल से तुलसीपुर भेज कर दोबारा बिखरे क्रान्तिकारियों को संगठित करने का भार सौंपा। यद्यपि मम्मू खाँ जानते थे कि अब पग पग पर मौत है फिर भी उन्होंने वैसा ही किया जैसा बेगम ने कहा। मम्मू खाँ पकड़े गये। उन्हें फाँसी की सजा हो गयी।

खान अली खाँ—नवाब अली खाँ जो कि महमूदाबाद (जिला सीतापुर) के राजा थे उनके नायब खान अली खाँ फौज के साथ लखनऊ आये। 30 जून सन् 1857 को जब हेनरी लारेन्स और ब्रिगेडियर ईगलिस अपनी फौजें लेकर स्माइल-गंज पहुँचे तो उन पर अचानक आक्रमण हो गया। यहाँ का मोर्चा खान अली खाँ के साथ साथ बख्त अहमद खाँ शहाबुद्दीन तथा घमंडीसिंह ने संभाल रखा था। यह भारतीय फौजों की एक ऐतिहासिक जीत रही।

मुहम्मद अहमद खाँ—बशीरत गंज के मोर्चे पर अपनी अभूतपूर्व वीरता का परिचय देने वाले मुहम्मद अहमद खाँ मलिहाबाद के नवाब फकीर मुहम्मद खाँ के साहबजादे थे। बशीरतगंज में घमासान जंग जारी था। अंग्रेजी फौजों को निरन्तर आगे बढ़ता देख सारे विद्रोही सिपाही निकल भागे। मुहम्मद अहमद खाँ अकेले ही लड़ते रहे।

राजा हनुमंतसिह—1857 के गदर में एक हिन्दुस्तानी का फर्ज इन्होंने बखूबी निभाया। जंग में उनका लाडला पुत्र जौनपुर में अंग्रेजों की गोरखा पलटन से लड़ता हुआ शहीद हो गया। एक बार कर्नल वैरों की उन्होंने जान ही नहीं बचाई बल्कि शरण भी दी और खतरा टलने के बाद इलाहाबाद भिजवा दिया।

कर्नल वैरों ने इसका गलत अर्थ लगाया। कर्नल साहब ने कहा आप हमारी विद्रोह में मदद तो करेंगे ही। इतना सुनते ही राजा कालाकाँकर हनुमंत सिंह गुस्से से तिलमिलाकर बोले मेरा यह इन्सानी फर्ज था कि खतरे में फंसे आपकी मैंने मदद की। इसका मतलब यह नहीं कि विद्रोह के समय में भी आपकी मदद करूँगा। अंग्रेजों के साथ लड़ाई करना हमारा राष्ट्रीय फर्ज है इस लड़ाई में उनकी रियासत तक छिन गयी।

जनरल बख्त अहमद खाँ—जनरल बख्त शाही फौजों के सेनापति थे। विशाल सेना और भारी मात्रा में गोला बारूद लेकर वह लखनऊ आ गये थे। चक्कर वाली कोठी के मोर्चे पर वह लड़े थे। श्री तबस्सुम निजामी 'भारतीय' के अनुसार जब वह दिल्ली से लखनऊ आये थे तो उनके साथ 5000 सैनिक थे।

लखनऊ में मौलवी अहमद उल्ला शाह और बेगम हजरत महल में पारस्परिक तनाव को देखकर वह बहुत दुखी हुए और निराश होकर कहीं चले गये।

राणा बैनी माधवसिंह और नसरत जंग—एक सच्चे भारतीय की तरह इन दोनों ही वीरों ने अपनी जानें गंवा दीं। एक को तोप से उड़ा दिया तो दूजे को

फाँसी पर लटका दिया गया। राणा बेनी माधव बख्श सिंह ने आजादी की लड़ाई में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वह 5 तोपें और 5,000 बहादुर सैनिकों को लेकर लखनऊ आये और विभिन्न मोर्चों पर लड़े।

बेगम हजरत महल जब लखनऊ छोड़कर जाने लगीं तो वह भी अपने बचे 248 सैनिकों को लेकर बेगम के साथ ही चल पड़े। अब उनका यहाँ बचा ही क्या था। बेणी माधव देवगढ़ में रहने लगे। 'श्री निजाम भारतीय' के अनुसार—बेणी माधव से यह कहा गया था कि वह अंग्रेजों से माफी माँग लें परन्तु उन्होंने माफी माँगने से साफ मना कर दिया। नेपाल के सेनापति पहलवान सिंह ने तोपचियों को हुक्म दिया कि तोपों द्वारा उन्हें और उनके सैनिकों को खत्म कर दिया जाए। तोपों ने आग उगली बेणी माधव अपने तमाम सैनिकों सहित शहीद हो गये।

नसरतजंग को कैसरबाग़ के निकट ही चाइनाबाग़ में खुलेआम फाँसी पर लटका दिया गया था।

खण्ड दो

मस्जिदें

लक्ष्मण-टीले वाली मस्जिद—लखनऊ के इतिहास के आगे की कहानी अगर लक्ष्मण टीले से ही शुरू की जाये तो बेहतर होगा। बड़े इमामबाड़े के सामने मौजूद ऊँचा टीला 'लक्ष्मण टीले' के नाम से मशहूर है। इतिहास को अपने दामन में संजोये तमाम पुरातात्विक अवशेष आज भी इस विशाल टीले के नीचे दफन हैं। 'लखनऊ गजेटियर' में इसे शहर का केन्द्र बताया गया है। कहा जाता है कि यहाँ काफी ऊँचाई पर एक मन्दिर था जिसकी बड़ी मान्यता थी।

मुगल शासक औरंगजेब ने जब 'सुल्तान अली शाह कुली खाँ' को अवध के देखभाल की जिम्मेदारी सौंपी तो उसने इसी टीले पर एक विशाल मस्जिद बनवायी तो कि 'टीले वाली मस्जिद' के नाम से मशहूर हुई। इस टीले को 'शाहपीर मुहम्मद का टीला' भी कहते हैं। शाहपीर मुहम्मद एक लम्बे समय तक इसी खास टीले पर रहे और यहीं उनका इन्तकाल भी हुआ।

टीले की लम्बाई 200 मीटर और ऊँचाई 120 मीटर है। ऊँचाई पर मौजूद सफेद चूने से पूती मस्जिद बड़ी आकर्षक नजर आती है। इसके सामने की ओर फैले विशाल क्षेत्र में हरी घास की चादर और उसके बीच बनी क्यारियों में मुस्कराते फूल बड़ा दिलकश नजारा पैदा करते हैं। इसी हरी चादर के मध्य से एक छोटा सा रास्ता ऊपर स्थित मस्जिद तक चला जाता है।

टीले के ठीक पीछे बाँई तरफ दो बड़े कमरों वाली एक छोटी सी इमारत है। जिस पर शायद ही किसी ने कभी खासकर गौर फरमाया हो। यह इमारत "हुसैनाबाद वाटर वर्क्स" के नाम से मशहूर थी। 1 अप्रैल सन् 1901 ई० को आयुक्त आर० डी० हर्डी ने इस वाटर वर्क्स का उद्घाटन किया था। तत्कालीन जिला जज, सी० एच० बथाउड, ट्रस्टी आगा अब्बास साहब, सचिव सैय्यद मोहम्मद जावेद एवं आयुक्त आर० डी० हार्डी साहब ने मिलकर एक मीटिंग में तय किया कि लखनऊवासियों को पानी की दिक्कत से छुटकारा दिलाने के वास्ते नदी के किनारे ही एक वाटर वर्क्स तैयार कराया जाय। इस प्रकार मंजूरी मिलने के बाद सन् 1897 में वाटर वर्क्स का निर्माण शुरू हुआ। इसमें लगी सभी मशीनें

इंग्लैन्ड से मंगवायी गयी थीं।

इमारत के पिछले भाग में आज भी बलुए पत्थर की एक लम्बी स्केल लगी है जोकि जलस्तर नापने के काम में आती थी। तकरीबन सात-आठ साल हुए इसमें लगी सारी मशीनें कबाड़ के रूप में 65, 500 रुपये में बेंच दी गयीं थीं।

जिस बड़े कमरे में काफी बड़ी और भारी मशीन लगी थी लोग उसे अब 'खूनी कमरा' कहतेहैं। बताया जाता है कि इस मशीन को लगाते वक्त तीन-चार आदमी बेमौत मारे गये थे। तब से जो भी आदमी इस कमरे में पैर रखता है उसका कुछ न कुछ अनिष्ट जरूर होता है। इस तथ्य में कितनी हकीकत है यह पता नहीं।

आसफी मस्जिद—'आसफी-इमामबाड़े' से ही मिली हुई 'आसफी मस्जिद' है। इसका निर्माण भी इमामबाड़े के साथ ही साथ होता रहा। मस्जिद एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। जहाँ तक पहुँचने के लिए लम्बी-चौड़ी सीढ़ियों का सफर तय करना पड़ता है। जामा-मस्जिद विशाल जरूर है पर जहाँ तक खूबसूरती की बात है आसफी मस्जिद लखनऊ की तमाम मस्जिदों से कहीं अधिक खूबसूरत है।

मस्जिद के सामने खुला सहन है जिसमें दाहिनी तरफ एक बड़ा हौज है इसके मुख्य द्वार की बनावट और उस पर की गयी कारीगरी काबिले तारीफ है। मुख्य द्वार के दायीं और बायीं ओर क्रमशः पाँच-पाँच दर कतारबद्ध बने हैं। मस्जिद में तीन कमरखी दार गुम्बद तथा दो ऊँची मीनारें हैं। मस्जिद में बजमात नमाजें होती हैं, साथ ही मोहर्रम, ईद व बकरीद आदि पर भी यहाँ नमाजें अदा की जाती हैं।

नवाब आसफुद्दौला बड़ी ही रंगीन तबियत के इन्सान थे। वह अपने अंग्रेजी दोस्तों के साथ अंग्रेजी कैलेन्डर के मुताबिक नये साल का दिन बड़े जोर-शोर से मनाते थे। एक बार 'जश्ने-नौरोज़' के दिन नवाब साहब एक बेशकीमती खिल-अत पहनकर दरबार में हाजिर हुए। लोगों की आखें हैरत से फैल गयीं। खिलअत में बीस लाख के हीरे-जवाहरात टंके थे।

उस दिन अवध के दूर-दराज इलाकों से तमाम खुसूसी मेहमान लखनऊ तशरीफ लाये। खूब जश्न मना। 10 लाख रुपये देखते ही देखते हवा हो गये। कहते हैं अमीर-गरीब, जमीदारों, ताल्लुकेदारों, राजाओं को मिलाकर तकरीबन ढाई लाख लोगों ने दावत खाई।

नौ प्रकार के व्यंजन बने थे। जिनमें तमाम तरह की मिठाइयों को छोड़कर शामी-कबाब, अचार-सफैदा, मुज़ाफर, अरबी गोश्त, कोरमा, बोरानी के प्याले, गुलाब, शीरे बरंज के ख्वाचें मुख्य थे।

जामा मस्जिद—हुसैनाबाद इमामबाड़े के पश्चिम में एक ऊबड़-खाबड़ विशाल मैदान है। इसके ऊँचे टीले पर लखनऊ की सबसे विशाल मस्जिद है।

मोहम्मद अली शाह के वक्त इसका निर्माण चल रहा था कि अचानक ही उनका इंतकाल हो गया। बेगम मलका जहान ने अपने शौहर की इस निशानी को पूरा करवाना अपना फर्ज़ समझा। लखौड़ी ईंटों से बनी यह विशालकाय मस्जिद तत्कालीन वास्तु कला का अनुपम उदाहरण है। इसकी भीतरी दीवारें 15 फुट चौड़ी हैं। मस्जिद में तीन गुम्बद हैं जिनमें बीच का गुम्बद सबसे बड़ा है। अगल बगल दो ऊँची मीनारें हैं। जिसमें 114 सीढ़ियाँ हैं।

मस्जिद की दूसरी विशेषता इसमें लकड़ी व लोहे का इस्तेमाल न किया जाना है। मस्जिद की भीतरी दीवारों व छत पर खूबसूरत डिजाइनें बनी हैं। सामने की ओर एक विशाल बरामदा है।

सन् 1901 में 12 हजार रुपये मस्जिद की मरम्मत के लिए सरकार द्वारा दिये गये थे। मस्जिद के दक्षिणी भाग में एक अधूरा इमामबाड़ा बना है। इसके खम्बे 6 फुट ऊँचे हैं।

इमामबाड़े की बनावट को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि इसको एक भव्य आकार प्रदान करने की योजना थी जो कि बादशाह के मरते ही खाक में मिल गयी। चूँकि मलका जहान द्वारा बनवाई गयी इस मस्जिद में शुरू से ही जुमे की नमाज अदा की जाती रहीं सो यह 'जामा मस्जिद' के नाम से ही मशहूर हो गयी।

मस्जिद मियाँ अल्मास अली खाँ—अल्मास अली खाँ नवाब आफुद्दौला के वक्त में 'ख्वाजासरा' थे। नवाब साहब को मियाँ अल्मास पर बहुत विश्वास था, जिसका उन्होंने नाजायज फायदा उठाने में कोई कसर न छोड़ी।

हराम की कमाई ऐसा रंग लाई कि यह ख्वाजासरा लखनऊ का सबसे बड़ा रईस हो गया। अल्मास साहब नवाब शुजाउद्दौला की बीबी और नवाब आसफुद्दौला की माँ 'बहू-बेगम' के पास फ़ैज़ाबाद में ही रहा करते थे। आसफुद्दौला ने लखनऊ को जब अवध की राजधानी बनाया तो वह भी फैज़ाबाद से लखनऊ आ गये।

मियाँ अल्मास ने तमाम इमारतें बनवाईं जिसमें लखनऊ में बना उनका इमामबाड़ा और मस्जिद अपनी विशालता और खूबसूरती में एक अलग ही स्थान रखती है।

ठाकुरगंज के करीब ऊँचा कुर्सी पर बनी यह आलीशान मस्जिद आज भी इस ख्वाजासरा की अमीरी का बखान करती नज़र आती है। जबकि इससे लगा इमामबाड़ा अब खण्डहर में तबदील हो चुका है। इमामबाड़े के बचे कुछ सही सलामत हिस्सों में लोगों ने सर छुपाने के लिए अपने ठिकाने बना रखे हैं।

माली खाँ सराय रोड पर दाहिनी तरफ मौजूद इसके प्रवेश द्वार से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि मस्जिद और इमामबाड़ा एक काफी बड़ा क्षेत्र घेरे हुए थे

मस्जिद में पाँच दर हैं। जिसमें से तीन दर सामने की तरफ हैं और बाकी दो क्रमशः उत्तर और दक्षिण में हैं।

मस्जिद में मौजूद विशाल तहखाने का प्रवेशद्वार ऊपर से ही है। इसे एक बड़े पत्थर से अब बन्द कर दिया गया है। मियाँ अल्मास के इमामबाड़े में नवाब वाजिद अली शाह के वक्त में एक कचहरी लगा करती थी। जिसे 'चोर-कचहरी' कहते थे।

तहसीन की मस्जिद—चौक के गोल दरवाजे से एक सकरी सी किन्तु व्यस्त सड़क अकबरी दरवाजे तक चली जाती है। अकबरी दरवाजे के करीब ही मौजूद टुकड़े-कबाबियों की मशहूर दुकान इसी मस्जिद की इमारत में ही कायम है। एक ऊँची कुर्सी पर बनी यह मस्जिद लखनऊ की खूबसूरत मस्जिदों में गिनी जाती है। दरबार में मियाँ तहसीन का बड़ा रुतबा था। उन्हें सम्मान पूर्वक 'नवाब नाजिर मियाँ तहसीन अली खाँ' के नाम से पुकारा जाता था।

नवाब आसफुद्दौला की तख्त नशीनी के 17 साल बाद इस मस्जिद की नींव पड़ी। 'तारीखे-अवध' के मुताबिक तहसीन मियाँ की मस्जिद का निर्माण भी आसफी इमामबाड़े के साथ ही साथ चल रहा था। इमामबाड़ा रात भर जितना बनता सुबह इतना गिरा दिया जाता था। इस प्रकार काफी मसाला बरबाद हो रहा था। मियाँ तहसीन ने खराब हो रहे मसाले के बारे में नवाब साहब से कहा। "हजूर अगर यह मसाला मुझे मिल जाया करे तो मैं एक मस्जिद बनवा दूँ।" भला नवाब साहब को इस नेक काम में क्या एतराज होता वह खुशी से राजी हो गये। इस तरह जो मसाला आसफी इमाम बाड़े व रूमी दरवाजे में इस्तेमाल हुआ वहीं इस मस्जिद में भी।

सन् 1857 ई० से जुलाई, 1884 ई० तक यह मस्जिद 'मस्जिदे-जमा' भी रही। यहाँ जुमाँ व व ईद की नमाजें अदा की जाती थीं। नमाजियों की इतनी भीड़ होती थी कि हमाम और फाटक की छतों तक पर नमाजियों की कतारें लग जाया करती थीं। सफेद चूने से पुती मस्जिद में तीन दर तीन गुम्बद और दो मीनारें हैं। गुम्बदों की ऊपरी मीनारों पर पीतल की चादर हैं। इस पर सोने का पानी चढ़ा हुआ है। विशाल सहन के बाईं और दायीं ओर दो हौज हैं। दाहिनी तरफ वाले हौज के करीब ही एक टूटा-फूटा गुसलखाना है जिसमें आज भी भट्टियों के चिन्ह मौजूद हैं। इन पर जाड़े के दिनों में पानी गर्म किया जाता था।

सराय तहसीन—हैदर हुसैन के दरवाजे को पार कर चौक के पश्चिमी क्षेत्र में नवाब नाजिर मियाँ तहसीन अली की सराय है। यह मशहूर सराय मियाँ तहसीन ने नवाब आसफुद्दौला के वक्त में आम जनता के इस्तेमाल के लिए बनवायी थी। मियाँ तहसीन साहब नवाब शुजाउद्दौला की हुकूमत के समय 'ख्वाजासरा'

थे और कौम के खत्री थे। मुस्लिम धर्म स्वीकार करने से पहले तहसीन साहब का नाम 'भोलानाथ' था। नवाब आसफुद्दौला की हुकूमत में वह लखनऊ आकर बस गये। उनको बावर्चीखाने की देखरेख का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। बाद में वह तोशाखाने के दरोगा बने।

मियाँ तहसीन बड़े ही तिकड़मी इंसान थे। नवाब साहब के दिल पर बड़ी अच्छी पैंठ बना रखी थी। वज़ीर अली खाँ तहसीन की नज़रों में चढ़ गये। कहते हैं उनको वज़ीर के पद से हटाने में तहसीन साहब का काफी बड़ा हाथ रहा।

छोटे तहसीन की मस्जिद—बावर्ची टोले में स्थित इस मस्जिद को तहसीन अली खाँ खुर्द ने बनवाया था। अली खाँ खुर्द छोटे तहसीन खाँ के नाम से मशहूर थे। आबादी के बीच होने के कारण छोटे तहसीन की यह मस्जिद अपना अहम स्थान रखती है। बड़े तहसीन अर्थात् नवाब नाजिर मियाँ तहसीन अली खाँ नवाब शुजाउद्दौला के वक्त में ख्वाजासरा थे जबकि छोटे तहसीन बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के वक्त में महलखाने में तशरीफ लाये। छोटे तहसीन के वालिद का नाम दलेल खाँ था जो कि शाही फौज़ में मामूली से मुलाजिम थे। एक बार कुछ बेरहम डाकुओं ने उनके वालिद को लूटकर कत्ल कर दिया। तहसीन अली की उम्र उस वक्त तकरीबन पाँच-छः साल की ही थी जब वालिद का साया उनके ऊपर से उठ गया। जालिमों ने बच्चा समझकर इन्हें छोड़ दिया। तहसीन अली की तकदीर ने यहीं से अपना खेल खेला। वह कुछ ऐसे आदमियों के हाथ लग गये जिन्होंने तहसीन की नन्हीं उँगली पकड़कर उन्हें नसीरुद्दीन हैदर के पास पहुँचा दिया। नेक दिल बादशाह इस नन्हीं सी जान को देखकर खुश हो गये, बड़े प्यार से तहसीन की परवरिश की गयी। नवाब मोसिनुद्दौला इस बच्चे की देखभाल के लिये नियुक्त किये गये थे।

वक्त बीतता गया और छोटे तहसीन की कहानी लोगों के दिमाग से उड़ती गयी। अब वह शाही परिवार के अंग बन चुके थे। लखनऊ के बावर्ची टोले में बनी यह मस्जिद आज भी छोटे तहसीन की याद दिलाती है।

मस्जिद मलका किश्वर—काश्मीरी मोहल्ले में बनी इस खूबसूरत मस्जिद को मलका किश्वर ने बनवाया था। मलका किश्वर शाही फौज के रिसालदार हसनुद्दीन खाँ की लड़की थीं और अमजद अली शाह को ब्याही थीं। निकाह होने के बाद ताज आरा बेगम (मलका-किश्वर) को 'खातून मुअज्जमा बादशाह बहू नवाब मलका किश्वर' का खिताब हासिल हुआ।

मलका किश्वर बड़ी ही दिलेर महिला थीं। उन्होंने आजादी के लिये जंग तो न लड़ी थी मगर फिरंगियों के अत्याचारों और आतप के झकोरों से मुर्झाये हुए आवाम को राहत दिलाने के लिए वह तमाम परेशानियाँ झेलती हुई इंग्लैण्ड जा पहुँची थी। 'मेजर बर्ड' ने खुद इस महान हिन्दुस्तानी नारी का पूरा साथ दिया।

'अवध की लूट' किताब में मलका की इग्लैण्ड यात्रा का विस्तार से जिक्र किया गया है।

मलका किश्वर ने मलका विक्टोरिया को खुश करने की हर मुमकिन कोशिश की। जब आशा की ज्योति कुछ नजर आयी ही थी कि इधर अवध में आजादी की जंग शुरू हो गयी।

इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान लौटते वक्त पेरिस में ही उनका इन्तकाल हो गया।

पण्डाइन की मस्जिद—अमीनाबाद में होटलगुलमर्ग के करीब आज जहाँ पण्डाइन की मस्जिद मौजूद है, तथा झण्डे वाला पार्क समेत काफी बड़ा इलाका 'पण्डाइन का बाग' कहलाता था। 'खदीजा खानम' और 'रानी जय कुँवर' में बड़ी गहरी दोस्ती थी। बुढ़ापे के वक्त में रानी साहिबा ने खदीजा खानम की बड़ी देख-भाल की थी। खदीजा खानम की तमन्ना थी कि वह एक मस्जिद बनवा सकें। उनकी यह तमन्ना रानी जयकुंवर ने पूरी की और एक मस्जिद बनवाई जो कि "पण्डाइन की मस्जिद" के नाम से मशहूर है।

मस्जिद जब तक पूरी बनकर तैयार हो खदीजा खानम का वक्त पूरा हो चुका था। इन्तकाल के बाद मस्जिद के करीब ही खदीजा खानम का मकबरा बनवाया गया जिसका कि अब नामों निशान मिट चुका है। खदीजा खानम की तकदीर बड़ी जोरदार थी। नवाब 'बुरहानुलमुल्क' की बेगम जो कि अकबराबाद के सूबेदार की बेटी थीं 'खदीजा-खानम' उन्हीं की कनीज थी। शादी के चन्द रोज बाद बेगम साहिबा खुदा को प्यारी हो गयी और खदीजा खानम 'बुरहानुलमुल्क' को। 'जमायते उलमुल्क अबुल मंसूर खाँ बहादुर सफदरजंग' की बेगम 'सदरुन्निसा' इसी कनीज की ही औलाद थीं।

पण्डाइन की मस्जिद को 'जिन्नातों वाली मस्जिद' भी कहते हैं। यहीं पर एक बात मैं और स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि पतंग पार्क के करीब जो मस्जिद है वह भी "जिन्नातों वाली मस्जिद" के नाम से जानी जाती है। लेकिन यह मस्जिद शाह नसीरुद्दीन हैदर के वक्त की है। जहाँ आज यह मस्जिद है वहाँ कभी मीर रमजान अली साहब का मकान हुआ करता था। एक लम्बे अरसे तक यह मस्जिद वीरान पड़ी रही हाल ही में इसकी नये सिरे से मरम्मत करवाई गयी है।

मोहर्रम की 8 तारीख को इसी मस्जिद से शिया समुदाय का ताज़िया उठता है और शबे बारात का मेला लगता है। इस मस्जिद में एक भी गुम्बद नहीं हैं। जब कि पण्डाइन की मस्जिद इससे बड़ी होने के साथ-साथ उसमें तीन गुम्बद और दो मीनारें भी हैं।

मस्जिद धनियाँ महरी—'मस्जिद धनियाँ महरी' मौलवी गंज चिक मण्डी में मौलाना अब्दुल शकूर मार्ग पर स्थित है। धनियाँ महरी बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की बड़ी सिर चढ़ी थी। दरबार में धनियाँ महरी और उसकी बहन डोली ने

अच्छा-खासा दबदबा बना रखा था। वह थीं तो मामूली सी मुलाजिम ही, लेकिन ठाठ किसी अमीरजादी से कम न थे।

धनियाँ महरी जनानखाने की देखरेख की जिम्मेदारी बखूबी निभाती थी। जनानखाने की इस अफसर की मातहती में सैकड़ों नौकरानियाँ रहती थीं। धनियाँ महरी को 'अफजलउन्निसा' का खिताब मिला था।

नसीरुद्दीन ने एक दिन खुश होकर इसे हजारों रुपये इनाम में दिये। इन्हीं इनाम के पैसों मे धनियाँ महरी ने यह मस्जिद बनवा दी। जब कि बादशाह नसीरुद्दीन ने बुद्धेश्वर महादेव मन्दिर के करीब पड़ने वाले नाले पर एक पुल बनवाया।

यह नाला बरसात के दिनों में उफना आता था। जिससे बुद्धेश्वर महादेव के मेले में नाले के उस पार से आने वाले लोगों को बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती थीं। धनियाँ महरी ने मस्जिद के अलावा एक इमामबाड़ा भी बनवाया था जिसका अब अस्तित्व ही मिट चुका है।

धनियाँ महरी की मस्जिद में अब वह खूबसूरती न रही। इसे तुड़वाकर दोबारा नये सिरे से बनवाया गया है। मस्जिद की दोनों मीनारें हटा दी गयीं हैं। जबकि पुराने गुम्बद की अच्छी तरह मरम्मत कर दी गयी है। 7 जुलाई, 1837 की रात ने इस महरी की दामन में दाग लगा दिया। लोगों ने नसीरुद्दीन को जहर देकर मारने का इल्जाम धनियाँ महरी के सिर थोप दिया। लेकिन इस बात में हकीकत कितनी है यह पता न चल सका।

राज्य संग्रहालय में धनियाँ महरी की एक खूबसूरत तस्वीर आज भी देखी जा सकती है।

महल

मच्छी-भवन—'लक्ष्मण टीले' के करीब ही एक ऊँचे टीले पर शेख अब्दुर्रहीम ने एक किला बनवाया। शेखों का यह किला आस-पास मौजूद अन्य गढ़ियों की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत था। शेख अब्दुर्रहीम साहब का शेखों में बड़ा दबदबा था। 'गुजिश्ता-लखनऊ' से प्राप्त जानकारी के अनुसार लखना नाम के अहीर ने यह किला बनवाया था, उसी के नाम से इस शहर का नाम लखनऊ हो गया। किला इतना मजबूत और सुरक्षित था कि कहा जाने लगा—"जिसका मच्छी भवन उसका लखनऊ।"

वक्त के थपेड़ों ने मच्छी-भवन का नामों-निशान मिटा दिया। आज उसी के भग्नावशेषों पर मेडिकल कालेज के विशाल भवन निर्मित हैं। यह किला चारों तरफ से ऊँची एवं मजबूत चहारदीवारी से घिरा था। सम्पूर्ण किले में बने महलों पर तमाम भव्य मत्स्याकृतियाँ थीं। जिससे इसका नाम 'मच्छी-भवन' हो गया। यह किला अगर अपनी मजबूती में बेमिसाल था तो खूबसूरती में भी कम न था। उसकी यही खूबी 'सैय्यद मुहम्मद अली' उर्फ सआदत खाँ 'बुरहानुलमुल्क' के दिमाग में घर कर गयी। इस किले को हासिल करना आसान काम न था। वह जानते थे कि यदि सीधे इस पर आक्रमण किया गया तो विजय हासिल हो सकती है, पर खून-खराबा बड़ा जबरदस्त होगा। लिहाजा उन्होंने एक चाल चली।

सआदत खाँ ने शाहदरा में शेखों को एक दावत पर आमन्त्रित किया। दावत बड़ी शानदार रही। शेख सुरा और सुन्दरियों में डूब गये। सआदत खाँ ने मौका ताड़ा और मच्छी भवन पर धावा बोल दिया, अधिकांश शेख शाहदरा में मस्त थे। खबर लगी तो सिर पीट कर रह गये। कर भी क्या सकते थे? अब टक्कर लेना मौत को न्यौता देना था। मुख्य ताकत (मच्छी-भवन) जा ही चुका था।

सन् 1739 में सआदत खाँ को किसी ने जहर दे दिया। बेचारे खुदागंज पहुँच गये। सआदत खाँ के बाद सफदर जंग ने 'सूबेदार' का पद सम्भाला। शेखों से ज्यादा बिगाड़ लेना ठीक न समझा। समझदारी की। कई सौ एकड़ जमीन उन्होंने शेखों को रहने के लिये दे दी।

चित्रावली
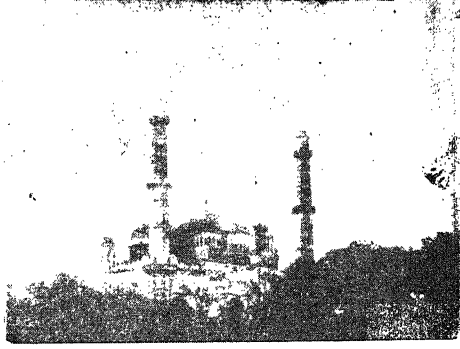
चित्र-1 : लक्ष्मण टीले वाली मस्जिद
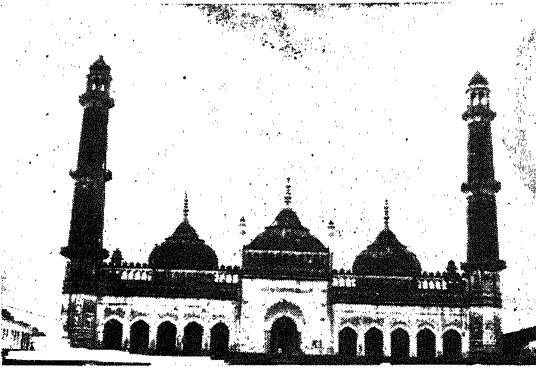
चित्र-2 : आसफ़ी मस्जिद

चित्र-3 : सतखण्डा महल
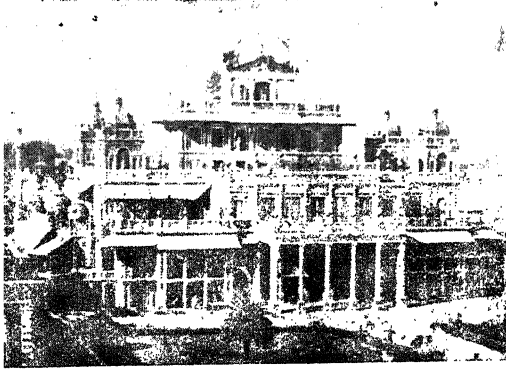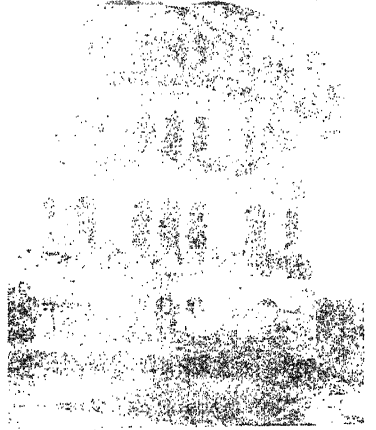
चित्र-4 : कोठी रोशनुद्दौला
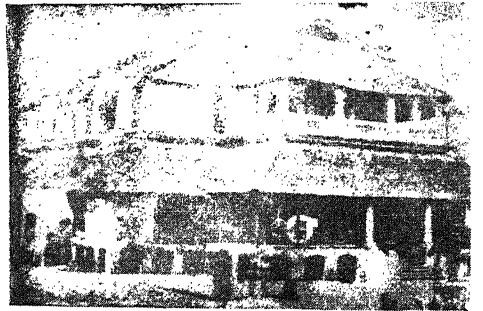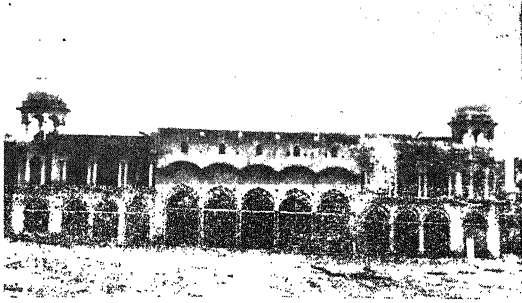
चित्र-6 : इमामबाड़ा गुफ़रान माअब
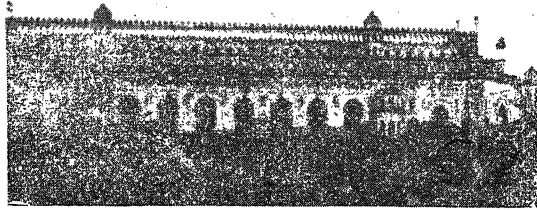
चित्र-7 : बड़ा इमामबाड़ा या आसफ़ी इमामबाड़ा
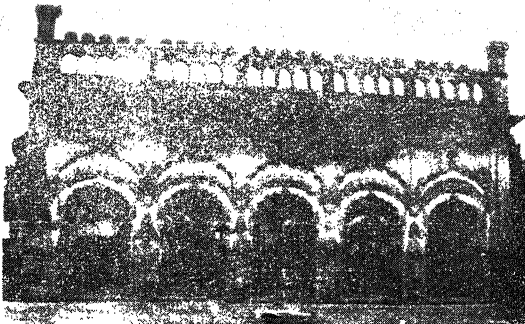
चित्र-8 : इमामबाड़ा ज़ैनुल आबदीन
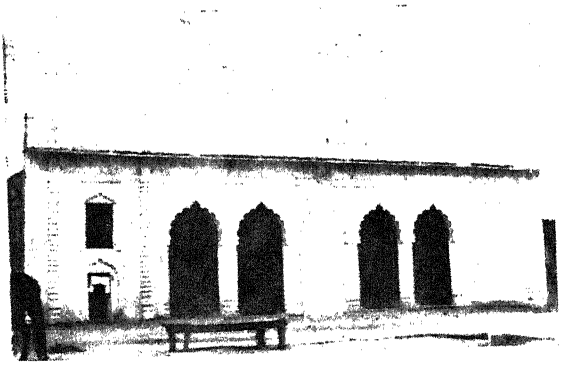
चित्र-9 : इमामबाड़ा मियाँ तहसीन
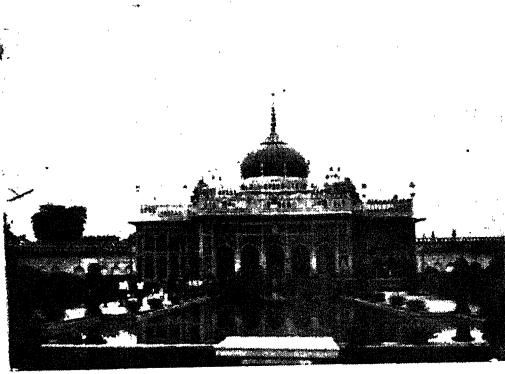
चित्र-10 : इमामबाड़ा हुसैनाबाद
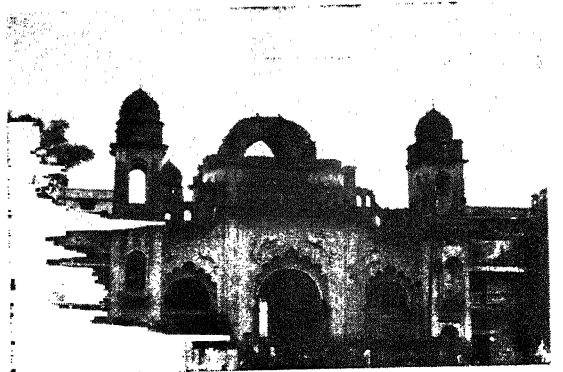
चित्र-11 : लखी दरवाज़ा

चित्र-12 : रूमी दरवाज़ा
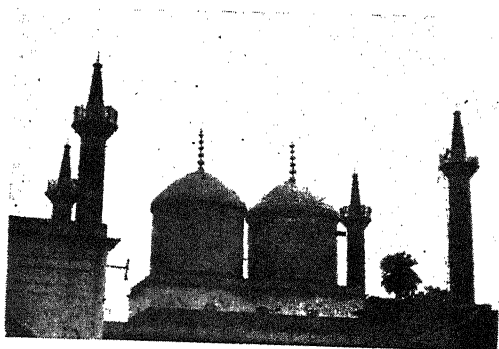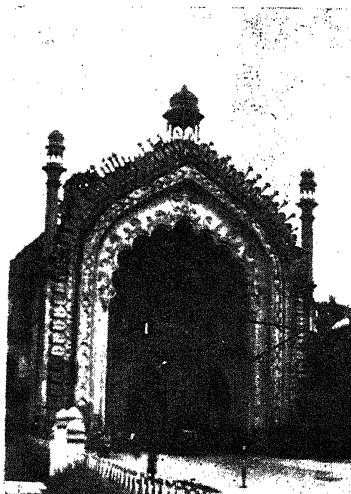
चित्र-13 : काज़मैन
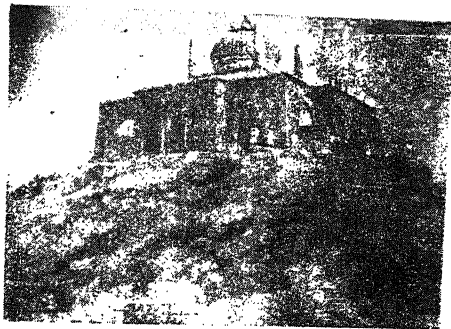
चित्र-14 : कदम रसूल
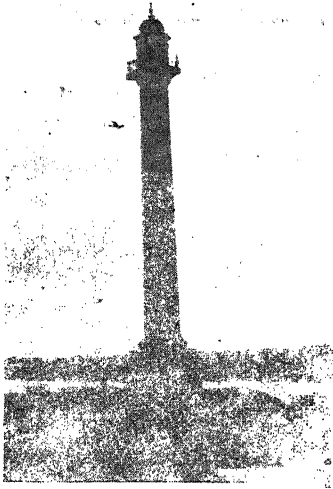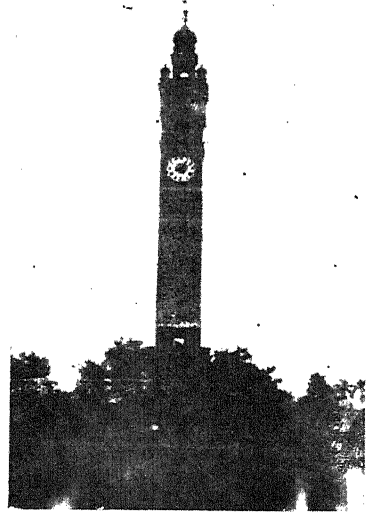
चित्र-15 : हुसैनाबाद घण्टाघर

चित्र-16 : ला-मार्टीनियर टावर
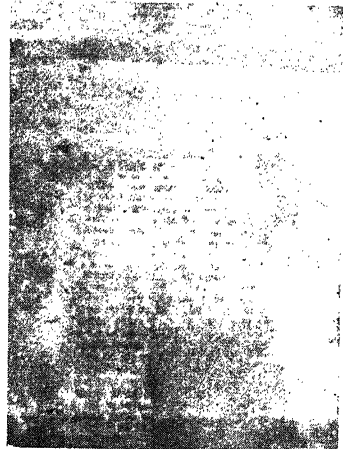
चित्र-17 : सुरंग का तहखाना (लाल बाग गर्ल्स कालेज)

चित्र-18 : बहादुरशाहज़फर द्वारा नवाब बिरजीस कदर को भेजी गयी शाही मुहर
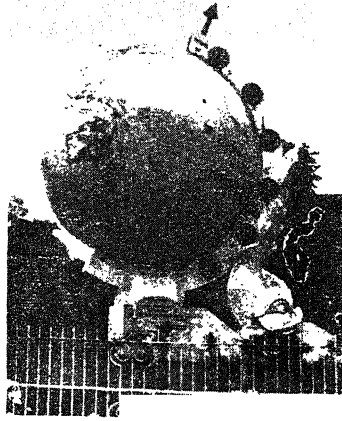
चित्र-19 : ग्लोब

चित्र-20 : तवायफ जद्दनबाई
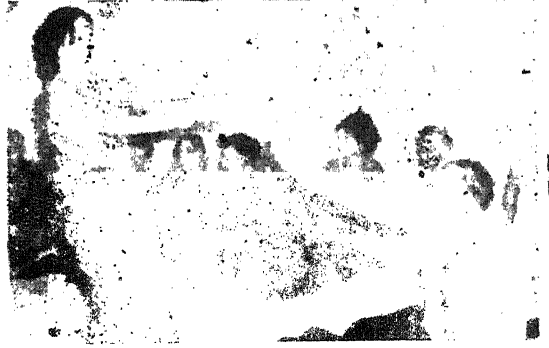
चित्र-21 : तवायफ सलमा एक मुजरे में
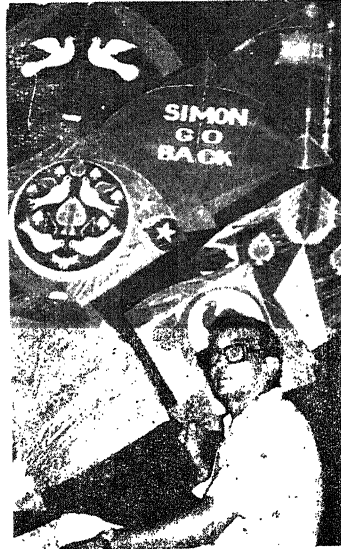
चित्र-22
'साइमन गो बैक' पतंग के साथ श्री वी० बी० श्रीवास्तव

1857 के गदर में मच्छी-भवन तहस-नहस हो गया। 28 जून, 1757 को हेनरी लारेंस ने जब यह खबर पायी कि नवाब गंज में एकत्र विद्रोही फौजें चिनहट आ धमकी हैं तो उसने तुरन्त अपनी सेनाओं को मड़ियाँव छावनी और बेलीगारद छोड़कर मच्छी-भवन पर आने का आदेश दिया। हेनरी लारेंस और ब्रिगेडियर इंग्लिस ने सोचा कि विद्रोहियों को वहीं समाप्त कर देना चाहिए। 30 जून, 1857 को हेनरी महोदय अपनी फौज लेकर रवाना हो गये। जैसे ही फौजें चिनहट के करीब इस्माइल गंज पहुँची आम के बाग में दोनों ओर छिपी विद्रोही सेना ने भीषण आक्रमण करके अंग्रेजों को वापस भागने पर मजबूर कर दिया।

इधर विद्रोही सेना भी भगोड़ों का पीछा करती शहर में प्रवेश कर गयी और बेलीगारद को चारों तरफ से घेर लिया। बुरे फंसे थे कमाण्डर कर्नल पामर जो कि थोड़ी सेना के साथ मच्छी-भवन में थे। हेनरी लारेंस ने पामर को झण्डियों के माध्यम से इशारा किया कि वह रात में ही मच्छी-भवन छोड़ दें। रात 12 बजे मच्छी-भवन की अंग्रेजी फौजें सुरक्षित बेलीगारद पहुँच गयीं। लेफ्टीनेन्ट टामस ने मच्छी-भवन उड़ा दिया। इसी के साथ ही शेखों के इस अजेय गढ़ की कहानी खत्म हो गयी।

इसी मच्छी-भवन ने आजादी के दीवानों को फाँसी के फन्दे पर लटकते हुए देखा था। मड़ियाँव छावनी की 48 नं० की रेजीमेन्ट के पकड़े गये अनेकानेक विद्रोही सिपाहियों को खुले-आम लटका कर सजाये मौत दी गयी थीं। लाश दिन भर रस्सी के फन्दे से लटकी रहती। गिद्धों और चीलों के झुण्ड इन्हें नोंच-नोंच कर खाते। शाम को फिर दूसरा कैदी लटकाया जाता।

फिरंगी महल—'गोल दरवाजे' और अकबरी दरवाजे के लगभग मध्य में 'फिरंगी-महल' की मशहूर इमारतें थीं। इनका इतिहास तकरीबन चार सौ बरस पुराना है। मुगल हुकूमत के वक्त लखनऊ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। अनेक व्यापारी लखनऊ आये। व्यापार चमकता देख यहीं बस गये।

इनमें एक फ्राँसीसी व्यापारी फ्रैड्रिक भी था। उसने लखनऊ में व्यापार करने के लिए दिल्ली से शाही स्वीकृति माँगी। स्वीकृति मिल गयी। लखनऊ में जनाब का व्यापार चल निकला। घोड़ों के व्यापार के साथ-साथ फ्रैड्रिक ने लखनऊ में अपना मुख्यालय बना लिया और चौक क्षेत्र में चार आलीशान महल बनवाये। इधर स्वीकृति में दी गयी अवधि खत्म हो गयी। शाही हुक्म आया कि वह लखनऊ ही नहीं अब हिन्दुस्तान ही छोड़ दें। फ्रैड्रिक साहब ने इस हुक्म को रुकवाने के लिए आगरे से दिल्ली और दिल्ली से आगरे बड़ी दौड़ लगाई। काम न हुआ। वह इस भाग-दौड़ से इतना पस्त हो गये कि शाही हुक्म को किनारे कर दिया। लखनऊ में ही जमे रहे। शाही कोतवाल को कार्यवाही करनी पड़ी। चारों मकानों पर कब्जा कर लिया गया। फ्रैड्रिक साहब हिरासत में ले लिये गये। आगरा पहुँचाये

गये। वहाँ से देश के बाहर नजर आये।

बादशाह औरंगजेब के जमाने में मुल्ला निजामुद्दीन सहालवी को यह चारों मकान मिल गये। यह मकान उन्हें शाही हुक्म से दिये गये थे। सन् 1601 ई० को फ्रैंड्रिक महोदय ने नए साल पर बड़ी धूम धाम से जश्न मनाया था। यूरोपीय यात्री लैकेट ने लिखा है—

"लखनऊ एक विशाल व्यापारिक केन्द्र है। मैं फ्रैंड्रिक-महल को देखकर दंग रह गया। कहते हैं—कि उसने नये-साल की खुशी में ऐसा जश्न मनाया कि लोग हैरान रह गए। 1200 हाथियों के होदों में मशाल जलाई गयी थीं। हाथी दूल्हों की तरह सजे थे। सौ घोड़ों पर स्थानीय लोग बैठे थे। उनके कपड़े पाश्चात्य ढंग के थे। वह हाथ में झण्डियाँ और बैनर लिए हुए थे। जिन पर लिखा था—

"जहाँपनाह, जिल्ले सुबहानी आलमगीर शहंशाह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर को पैंतालीसवाँ 'सने जुलूस' और 'सने-ईसवी' का नया-साल मुबारक हो।' उस दिन रात को लोगों ने दावत उड़ाई। फ्रैंड्रिक महल (फिरंगी-महल), बाहर मैदान में 1200 फुट लम्बे 60 फुट चौड़े, 60 फुट ऊँचे दो तम्बू लगाए गए थे जहाँ कि दावत दी जानी थी। भोज शुरू होने के पहले जुलूस सारे शहर भर में घूमा। जब जुलूस लौटकर फ्रैंड्रिक महल आया तो उसके पीछे अपार भीड़ को देखकर ऐसा लग रहा था। मानों सारा लखनऊ उसके महल के इर्द-गिर्द जमा हो गया हो।"

इस जश्न पर पाँच लाख रुपये खर्च हुए थे। सम्राट अकबर का सन् 1605 ई० में इन्तकाल हुआ था और लैकेट महोदय सन् 1631 में शाहजहाँ की हुकूमत के वक्त हिन्दुस्तान तशरीफ लाये थे।

'फिरंगी-महल' क्रान्तिकारियों का गढ़ था। 'अब्दुल बरी' यहाँ आने वाले लोगों के दिलों में कम्पनी सरकार के खिलाफ आग सुलगाने का काम करते थे। रात में तमाम क्रान्तिकारियों और उनके नेताओं का यहाँ जमघट होता था।

सतखण्डा-महल—हुसैनाबाद घड़ी मीनार के दाहिने तरफ बनी इस बद-किस्मत इमारत का निर्माण बादशाह मोहम्मद अली शाह ने 1842 में करवाया था। इमारत की विशेषता यह है कि हर मंजिल अपने से नीचे वाली मंजिल से छोटी होती गई है और साथ ही साथ बनावट में भी बदलाव आता गया है।

लखौड़ी ईंटों से बनी यह लखनऊ की ही एक बेमिसाल और खूबसूरत इमारत होती यदि पूरी बन गई होती। दुर्भाग्य रहा अभी इसकी चार मंजिलें ही बनी थीं कि 16 मई, 1842 को बादशाह का देहावसान हो गया।

उनकी साँसों की लड़ी का टूटना था कि इमारत का निर्माण भी रुक गया। सन् 1841 में रूस से आए "ऐलेक्सास-सोलंटीकाफ" ने हुसैनाबाद को "क्रेमलिन" की संज्ञा प्रदान की है।

आज इस इमारत की दशा बड़ी दयनीय हो चुकी है। ऊपर की मंजिल का

एक भाग तो कब पके आम की तरह गिर जाए कुछ नहीं कहा जा सकता है। 'सतखण्डार-पैलेस' ने कभी ख्वाबों में भी यह नहीं सोचा होगा कि यदि 'सात खण्ड' न बन सके तो न सही, लेकिन जो चार खण्ड मौजूद हैं उनकी यह दशा होगी। इनके नीचे वाले खण्ड में भूसा भरा जाता था। दूसरे खण्ड में एक सज्जन निवास करते हैं। ऊपर जाने वाले घुमावदार सोपाने के हालात भी कुछ कम खराब नहीं हैं। रहीं इमारत की बाहरी दीवारें सो उन पर घास उगी है।

पिक्चर गैलरी—सतखण्डा पैलेस व हुसैनाबाद घड़ी मीनार के बीच एक बारादरी मौजूद है। जब बादशाह मोहम्मद अली शाह का इंतकाल हुआ तब इसका निर्माण कार्य चल ही रहा था। अंग्रेजों ने बादशाह के इस अधूरे काम को पूरा करवा दिया। आज इसी इमारत में 'हुसैनाबाद-ट्रस्ट' और 'वसीका' का आफिस मौजूद है। ऊपर की मंजिल तक पहुँचने के लिए लम्बे-चौड़े जीने का सफर तय करना पड़ता है। सोपानों के खत्म होते ही सामने एक गैलरी है इसके दाहिनी ओर बने पहले कमरे को छोड़कर उससे मिला ही एक विशाल हाल है। हाल में अवध के नबाबों की तस्वीरों के साथ-साथ राजकाज से सम्बध रखने वाली और उनकी बेगमों की तस्वीरें लगी हैं।

बारादरी के सामने बना तालाब इसकी खूबसूरती को और निखारता है। इसके किनारे पर गुसलखाने बने हुए हैं।

परीखाना पैलेस—कैसरबाग़ अपनी तमाम खूबियों और बेमिसाल खूबसूरती के लिए बड़ा मशहूर रहा। अब न तो वह खूबियाँ रहीं न खूबसूरती। आज जिस इमारत में 'भातखण्डे संगीत महाविद्यालय' स्थित है वही इमारत कभी 'परी-खाना पैलेस' के नाम से मशहूर थी।

वाजिद अली शाह नृत्य, संगीत के बड़े शौकीन थे। वह अपने इसी परीखाने में जाकर नाच-गाने में इतना अधिक खो जाते कि उन्हें अपना भी ख्याल नहीं रहता। 'परीखाना-पैलेस' वह इमारत थी जिसमें 'नर्तकियाँ' रहा करती थीं। इन्हीं नर्तकियों या अभिनेत्रियों को 'परी' कहकर सम्बोधित किया जाता था। चूंकि इस इमारत में केवल परियाँ ही रहती थीं लिहाजा इनका नाम ही 'परी-खाना' मशहूर हो गया।

इन परियों के ऐशो-आराम का पूरा ख्याल रखा जाता था। नवाब वाजिद अली शाह ने हर परी की देख-रेख के लिए चार-चार नौकरानियाँ रखीं थीं। यही नहीं इन परियों को बड़ी इज्जत बख्शी जाती थी। इस परीखाने की दारोगा "नजमुलनिसाँ' थीं। इसके अलावा 18 अफसर परियाँ थीं। 'अस्मान' और 'अभामन' नाम की निहायत ही चालाक दो कुटनियाँ भी थीं। इनका काम होता खूबसूरत स्त्रियों की तलाश करना और उन्हें इस परीखाने तक पहुँचाना।

वाजिद अली शाह ने नौ परियों को 'नवाब' का खिताब दिया था। इसी

परीखाने की सबसे मशहूर परी 'माहे-नौ' यानी कि 'बेगम हजरत महल' थीं। बेगम हजरत महल पहली बार जब वली अहद की नजरों के सामने आयीं तो वह उसकी खूबसूरती देखकर इस कदर दीवाने हो गये कि तुरन्त उन्होंने उनकी उँगली में अपनी बेशकीमती अँगूठी पहना दी।

वली-अहद ने उन्हें 'महक-परी' का खिताब दिया था

"पसीना था खुशबू में गुलाब परी थी,
'महक' उसने पाया खिताब"

इस परीखाने की इमारत के चारों तरफ चौबीसों घण्टे कड़ा पहरा लगा रहता था। यह पहरेदार औरतें ही होती थीं। मगर किसकी इतनी हिम्मत जो उनको औरतें समझकर परीखाने में घुसने की जुर्रत कर सके। परीखाने में केवल बादशाह और साजिन्दे ही जा सकते थे या फिर उस्ताद जो संगीत व नाचने की तालीम देने यहाँ आते थे।

'मोती-खानम' नाम की परी भी बादशाह की बड़ी चहेती थी। इसके अतिरिक्त अन्य परियों में इशरत परी, पासमन परी, महरूफ परी, दिलरुबा परी, सुल्तान परी मुख्य थीं। परीखाने में लगभग 150 औरतें रहती थीं।

हर साल कैसरबाग़ में एक बड़ा मशहूर मेला लगा करता था। जिसे 'जोगियाना मेला' कहते थे। वाजिद अली शाह बड़ी ही मस्त तबियत के इंसान थे। इस मेले में परीखाने की सुन्दरियाँ गेरूए कपड़े पहनकर जोगिने बनतीं तो वाजिद अली शाह भी कुछ कम न थे। वह भी सारे बदन में मोतियों की भस्म पोतकर जोगी बनते थे। इन जोगिनों में 'सिकन्दर-महल' उनकी खास जोगन होती थीं। फिर तो ऐसा समाँ बँधता था कि कृष्ण की रासलीला भी फीकी पड़ जाये।

मेले के दिन इतनी जबरदस्त भीड़ होती थी कि साँस लेना दूभर हो जाता था। हो भी क्यों न आखिरकार इसी मेले के ही अवसर पर आम जनता को कैसरबाग़ में आने का मौका जो मिलता था।

छतर-मंजिल—फ्रेंच व इटालियन शैली से युक्त इस भव्य और निहायत खूबसूरत इमारत को नसीरूद्दीन हैदर ने बनवाया था। चूँकि इमारत का जो गुम्बद है उस पर पीतल की एक बड़ी छतरी मौजूद है। इसीलिए यह इमारत "छतर-मंजिल" के नाम से मशहूर हो गयी।

इमारत में अनेक तहखाने हैं। यह तहखाने इस प्रकार बने हैं कि बाहर की पर्याप्त रोशनी बनी रहती है। इसमें एक तहखाने तक मोती महल से सुरंग भी आती है। हर साल बरसात के दिनों में गोमती का जल स्तर बढ़ने पर इस सुरंग में पानी आ जाता था। इसलिए इसे बन्द कर दिया गया है।

'द लखनऊ एलबम' पुस्तक के अनुसार छतर-मंजिल ऊँची चहारदीवारी से घिरी थी जो कि गदर के दौरान नष्ट हो गयी। छतर-मंजिल में अब वह खूब-

सूरती तो न रही जो गदर के पूर्व तक थी। यहाँ संगमरमर का बना एक तालाब था, जिसके बीचोंबीच बनी छतरी लोगों का मन मोह लेती है।

छतर मंजिल गर्मियों के दिनों में बड़ी आरामदेह थी। दरिया की बलखाती लहरें और उस तरफ खुलने वाली तमाम खिड़कियों से आते हवा के ठण्डे झोंके बड़ा आनन्द देते थे। इस महल में नसीरुद्दीन की खास बेगमें भी रहती थीं। मलका किश्वर को यह महल बेहद पसन्द था। नवाब वाजिद अली शाह भी कई दिनों तक छतर-मंजिल में रहे। मलका किश्वर अवध की बेगमों में बड़ी दिलेर मानी जाती थीं।

कम्पनी सरकार की काली करतूतों से वाजिद अली शाह की माँ याने कि 'मलका किश्वर' बुरी तरह से तंग आ गयी थी। 16 जून, सन् 1856 को वह लन्दन के लिए रवाना हुई। उनकी इस यात्रा में करोड़ों रुपये खर्च हुए। बेटे की बरबादी और उसके साथ अंग्रेजों द्वारा किया जा रहा सुलूक रुपये से कहीं ज्यादा अहमियत रखता था। मलका किश्वर का बर्ड ने बड़ा साथ दिया। 20 अगस्त को जहाज लन्दन पहुँचा। वहाँ मेजर बर्ड ने भी उनकी बड़ी सहायता की। मलका महारानी विक्टोरिया से मिली। मगर कोई काम न बना। बल्कि हुआ यह कि उन्हें कम्पनी सरकार की ओर से तैयार नवाब के विरुद्ध अभियोग की फाइल भेंट की गयी। फाइल कलकत्ता भिजवाई गयी। नवाब साहब ने उसके उत्तर में 300 प्रतियों और एक खत विक्टोरिया को भेजा। मलका किश्वर के सम्मान में ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने भोज दिया। वह केवल मलका से मीठी-मीठी बातें ही करती रहीं। भोज के दौरान विक्टोरिया ने मलका की गोद में 13 साल के बच्चे एडवर्ड को बैठा दिया। मलका ने यह सोच कर कि शायद विक्टोरिया का दिल पसीज जाये अपना कीमती हार बच्चे के गले में पहना दिया। लाखों रुपये विक्टोरिया को दे दिये।

इससे पहले कि अब बातचीत का थोड़ा बहुत सही माहौल बन पाता कि 1857 की आजादी की लड़ाई शुरू हो गयी। सारे किये-कराये प्रयत्नों पर पानी फिर गया। वह निराश होकर वापस लौट पड़ी। दोबारा हिन्दुस्तान देखना नसीब न था। पेरिस में ही उनका इंतकाल हो गया।

गदर के दौरान अंग्रेजों ने इस इमारत की बची-खुची खूबसूरती भी नेस्त-नाबूद कर दी। शीशे का सजावटी सामान, झाड़फनूस तथा अन्य कीमती वस्तुएँ उठा ले गये। आज इस विशाल इमारत में "सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट" (सी० डी० आर० आई०) विद्यमान है।

मोती-महल—मुबारिक मंजिल और शाह मंजिल के नाम से मशहूर इमारतों के बीच 'मोती-महल' का निर्माण नवाब सआदत अली खाँ ने करवाया था। इस निहायत ही खूबसूरत आलीशान महल का नाम मोती-महल कैसे पड़ा इस

सम्बन्ध में दो तथ्य उभर कर सामने आते हैं। पहला नवाब साहब की एक बीबी मोती बेगम (टाट-महल) थीं। नवाब साहब को अपनी इस बेगम से बेहद लगाव था। उनके इसी महल में रहने के कारण इसका नाम पड़ा 'मोती-महल'। दूसरा कारण यह है कि महल के गुम्बद को दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता है, मानों गोमती की कल-कल करती लहरों के किनारे कोई विशाल सफेद मोती रख दिया गया हो। इसकी इसी खूबी के कारण इसे 'मोती-महल' कहा जाने लगा।

'गुजिश्ता-लखनऊ' के अनुसार—'शाह मंजिल के सामने वाले मैदान में विभिन्न जानवरों का युद्ध कराया जाता था। यह मैदान हजारीबाग के नाम से मशहूर था। शाह-मंजिल के परकोटे से नवाब साहब "स्पैनिश-साँड, शेर, गैंड़े व हाथी की लड़ाई का लुफ्त उठाते थे। यह शौक नवाब में उनकी यूरोपियन बेगम के कारण पैदा हुआ। वह उन्हें 'एम्फी-थियेटर' की मनोरंजक दास्ताने सुनाती थी नवाब साहब किसी से कुछ कम हैसियत वाले तो थे नहीं। इस खतरनाक एवं मंहगे मनोरंजन की शुरूआत हो गयी। हजारीबाग एक छोटा-मोटा चिड़ियाघर बना दिया। तमाम जानवरों के लिए कटघरे बनवाये गये। जब विपरीत जाति के जानवरों की लड़ाई होती तो लोगों के दिल-दहल जाते। शेर और गैंडे की लड़ाई तो बड़ी ही भयावह होती थी। बेचारा शेर बे-मौत मारा जाता। वह पूरी शक्ति से आक्रमण जरूर करता पर गैंडे की कठोर खाल पर असर न होता। गुस्से से पागल गैंडा जब जोरदार टक्कर शेर को मारता तो वह दर्द से बिलबिला जाता।

"शेर और तेंदुवे की लड़ाई के दौरान तेंदुवे की ही अधिकांशतः जीत होती थी।"

खैर जिक्र चल रहा था मोती-महल का तो अन्य इमारतों की तरह यह भी गदर के पूर्व चहारदीवारी से घिरी थी। गदर के दौरान यह घेराव हट गया। भयानक जंग हुई। एक-एक इंच की जगह के लिए अंग्रेजों को जूझना पड़ा। 27 सितम्बर, 1957 को डा० बाट्रम, ब्रिगेडियर कूपर मोती महल में जारी लड़ाई के दौरान खुदा को प्यारे हो गये। मद्रास तोपखाने का लेफ्टीनेन्ट क्रम्प भी मारा गया। कैम्पबे जख्मी हुआ।

जनरल हैवलाक 25 सितम्बर, 1857 को भारी सैन्यबल के साथ आ धमका घमासान लड़ाई हुई। क्रान्तिकारियों ने देखा कि अब दाल नहीं गलने वाली तो धीरे-धीरे वह मोती महल के पीछे बने नावों के पुल से खिसक गये।

अधिकार तो हो गया मगर विद्रोही हाथ न लगे। आज यहाँ कई आफिस विद्यमान हैं जिनमें यू०पी० एक्सपोर्ट कारपोरेशन, निदेशक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, उत्तर प्रदेश बाल कल्याण समिति, भारत सेवा संस्थान, मोतीलालमेमोरियल, पिकअप आदि मुख्य हैं।

खुर्शीद-मंजिल—आज इस इमारत में 'ला-मार्टीनियर गर्ल्स कालेज' मौजूद है। इस इमारत का भी अपना एक दिलकश इतिहास रहा है। नवाब सआदत अली खाँ अपनी बेगम 'खुर्शीद-जादी को दिलोजान से चाहते थे। यह इमारत नवाब साहब ने इन्हीं के लिए बनवानी शुरू की। मगर अफसोस, उनकी यह तमन्ना पूरी न हो सकी। सआदत अली का इंतकाल हो गया। खुर्शीद जादी भी इस इमारत में रह न सकीं। जब तक इमारत बन कर तैयार होती वह खुदा को पहले ही प्यारी हो चुकी थीं। इस तरह से खुर्शीद-मंजिल बड़ी ही दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुई। बन रही इमारत का काम रुक गया। बादशाह गाज़ीउद्दीन जब तख्त पर बैठे तब उन्होंने यह इमारत पूरी करवाई और नाम 'खुर्शीद-मंजिल' रख दिया।

यह इमारत बनवाई जरूर बेगम खुर्शीद जादी की याद में गयी थी लेकिन यदि इसके बारे में प्राप्त जानकारी पर गौर फरमाया जाय तो जाहिर होता है कि खुर्शीद-मंजिल एक तरह का सुरक्षित गढ़ थी। इसके चारों तरफ गहरी खाई थी और मात्र एक ही प्रवेश द्वार।

खुर्शीद मंजिल की इसी खुसूसियत को देखकर अंग्रेजों ने इसे अपने अधिकार में कर लिया 'श्री अमृतलाल नागर' द्वारा लिखित 'गदर के फूल' पुस्तक के अनुसार खुर्शीद मंजिल में काफी लम्बे अरसे तक अंग्रेज अधिकारियों का मेस रहा। सन् 1857 की गदर में भारतीय-रणबाँकुरों ने इस पर अचानक आक्रमण करके अपने अधिकार में ले लिया। बाद में क्रान्तिकारियों की अंग्रेजों से जबरदस्त टक्कर हुई। पुनः अंग्रेजों का कोठी पर अधिकार हो गया।

17 नवम्बर, 1857 को जनरल आउटरम और हैवलाक यहीं कालिन-कैम्पबल से मिले। हाथ मिला कर एक दूसरे को इस असाधारण विजय पर मुबारकबाद दी।

वक्त फिर आगे बढ़ा। 27 नवम्बर, 1876 को अंग्रेजों ने भारी धनराशि के साथ इसे पादरियों के सुपुर्द कर दिया। खुर्शीद-मंजिल शिक्षा संस्थान में तबदील हो गयी। उस समय केवल गोरी चमड़ी वालों की औलादें ही इस कालेज में प्रवेश पा सकती थीं।

कोठी

बीबीपुर कोठी—नवाब आसफुद्दौला जब फैजाबाद छोड़कर लखनऊ तशरीफ लाये तो इस शहर के दामन में उन्होंने इमारतें और बागें भर दीं।

नवाब आसफुद्दौला ने शहर से दूर दरिया के किनारे 'बीबीपुर कोठी' बनवाई। सुनसान जगह पर बना यह महल अपनी बेमिसाल सुन्दरता के कारण बड़ा मशहूर रहा।

जब भी अवध के नवाबों का मन शिकार की ओर खिंचता तो वह इसी कोठी में आकर रुकते। नवाब साहब के अंग्रेज सबसे अच्छे दोस्त थे। अंग्रेजों की मदद से ही नवाब साहब ने रोहेलखण्ड पर अधिकार किया था। एक बार जब वह पारिवारिक षड्यन्त्रों के जाल में फंसने लगे तो उन्होंने अंग्रेजों को पुकारा। इनकी गुहार अंग्रेज मित्रों के कानों पर पहुँची और नवाब साहब इस मुसीबत से निजात पा गये।

नवाब साहब के जनरल क्लाड मार्टिन बड़े दिल अज़ीज थे। मार्टिन साहब ने जब इस कोठी को देखा तो बड़ा पसन्द किया। कोठी के महत्व को समझते हुए मार्टिन साहब ने इसे और अधिक सुविधाजनक बनाने हेतु इसमें तमाम सुधार करवाये।

नवाब आसफुद्दौला की मृत्योपरान्त नवाब वज़ीर अली ने गद्दी हथिया ली बाद में अंग्रेजों और नवाब वज़ीर अली के मन्त्री 'तफज्जुल हुसैन' ने एक षड्यन्त्र रचकर उन्हें गद्दी से हटवा दिया। वज़ीर अली को लखनऊ से बनारस भेज दिया गया। अंग्रेजों को इतने पर भी चैन न मिला। वज़ीर अली पर गवर्नर जनरल के एजेन्ट 'मिस्टर चेरी' की हत्या का आरोप लगाकर फोर्ट विलियम जेल भेज दिया गया। इसके बाद गवर्नर जनरल ने बीबीपुर कोठी में एक विशाल दरबार आयोजित किया और भरे दरबार में आसफुद्दौला के सौतेले भाई सआदत अली खाँ को 'नवाब' घोषित कर दिया।

इस प्रकार सन् 1797 ई० तक तो फिरंगी गुपचुप रूप से अवध के राजकाज में दखलंदाजी करते थे। मगर सन् 1798 में वह खुलकर सामने आ गये। नवाब

सआदत अली खाँ ने अवध की गद्दी हासिल कर लेने की खुशी में अंग्रेजों को आधी रियासत ही सौंप दी।

कोठी बीबीपुर आज धीरे-धीरे अपनी पहचान खोती जा रही है।

कोठी-ला-मार्टीनियर—लखनऊ की इस मशहूर और खूबसूरत कोठी के निर्माता 'जनरल क्लाड मार्टीन' का जन्म 'फ्राँस' के एक शहर 'ल्योंस' में 5 जनवरी सन् 1735 को हुआ था। मार्टीन ने अपनी 14 साल की छोटी सी उम्र में ही फ्राँस की सेना में नौकरी कर ली और 'काउंट-डी-लैली' का अंगरक्षक बनकर भारत आये।

अंग्रेजों और फ्राँसीसियों के मध्य हुए युद्ध में फ्राँसीसी बुरी तरह से पराजित हुए। अंग्रेजों का पाँडिचेरी पर कब्जा हो गया। तमाम सिपाही कैद कर लिए गये जिन्हें कलकत्ता भेजा गया। इन बन्दियों में मार्टिन भी शामिल था। जिस जहाज से यह लोग कलकत्ता आ रहे थे अचानक समुद्र की गर्त में समाने लगा। ऐसी कठिन परिस्थिति में मार्टिन ने न केवल अपनी ही जान बचाई बल्कि अपने कुछ साथियों की भी। वह उन्हें लेकर सकुशल कलकत्ता आ गया।

ऐसा अभूतपूर्व साहस देख अंग्रेजों ने बचे सैनिकों को अपनी सेना में शामिल कर मार्टिन को इंचार्ज बना दिया। सन् 1763 ई० में अपनी योग्यता व अदम्य साहस के बल पर मार्टिन ने कम्पनी में अपनी एक जगह बना ली थी। उसने बक्सर की लड़ाई में असाधारण सूझबूझ और वीरता का परिचय दिया था। मार्टिन चूंकि एक कुशल 'ड्राफ्ट्समैन' भी था सो उसे 'सर्वेयर' के पद पर नियुक्त कर कम्पनी सरकार द्वारा अवध के 'सर्वे' का काम सौंपा गया।

इसी दौरान नवाब आसफुद्दौला ने अपनी राजधानी फैजाबाद बदलकर लखनऊ बनायी। नवाब साहब और मार्टीन में खूब पटी। उन्होंने उसको अपनी सेना के तोपखाने और आयुधशाला का सुपरिटेन्डेन्ट बना दिया।

मार्टिन महोदय को लखनऊ बड़ा पसन्द था। सन् 1779 ई० में 44 साल की उम्र में उन्होंने कम्पनी सरकार की नौकरी छोड़ दी और लखनऊ में ही जम गये। सन् 1790 ई० में अंग्रेजों और टीपू सुल्तान के वीच हुए युद्ध में मार्टिन द्वारा निर्मित तोपें काम में लाई गयीं जिन्होंने इस युद्ध में अपनी अहम् भूमिका अदा की। इस तोप का नाम तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस के नाम पर 'कार्नवालिस' रखा गया। मार्टिन ने इसी अवधि के दौरान गवर्नर जनरल के एड-डी-कैम्प के रूप में कम्पनी सरकार की सेवा की। उन्हें कर्नल का पद हासिल हुआ और फिर 'मेजर जनरल'।

मार्टिन ने लखनऊ में एक निहायत ही खूबसूरत और लाजवाब इमारत का निर्माण करवाया। इस विशाल इमारत का नाम 'कांस्टेशिया' रखा गया परन्तु यह मशहूर हुई मार्टिन के नाम से ही। सन् 1794 ई० में यह विशाल इमारत बनकर

तैयार हो गयी। अभी इस कोठी की पुताई व सजावट का काम चल ही रहा था कि मार्टिन साहब 'कोठी फरहत बख्श' में 13 सितम्बर सन् 1800 को इस दुनिया से 62 साल की उम्र में रुखसत हो गये।

जनरल क्लाड मार्टिन के कोई औलाद नहीं थी। उन्होंने अपनी तमाम दौलत का वारिस बनाने के लिए एक लड़की को गोद ले लिया था जो 'गोरी बीबी' के नाम से बड़ी मशहूर हुई। मार्टीन ने अपनी लाडली बेटी की शादी 'रेजीडेंट कालिन्स' के साथ बड़ी धूमधाम से की। इस विशाल इमारत के दोनों तरफ दुमंजिली लम्बी इमारत है। इनके बीच की मुख्य इमारत के शीर्ष पर ठीक वैसी ही गुम्बदाकार संरचना है जैसी केसरबाग के लक्खी दरवाजों पर। सामने की ओर काफी बड़ा चबूतरा है जिस पर तीन तोपें रखीं हैं। बीच की तोप स्वयं मार्टिन की है जो प्रयाग से सन् 1874 में लखनऊ लायी गयीं थी। इमारत के एक गोलाकार कमरे में मार्टिन की प्रतिमा है और नीचे तहखाने में उनकी कब्र।

सन् 1840 ई० में यहाँ एक कालेज की स्थापना की गयी। परन्तु उस समय केवल अंग्रेजों के लड़कों को ही प्रवेश मिल सकता था। सन् 1857 की जंगें आजादी के दौरान क्रान्तिकारियों ने मार्टिन पर ऐसा भयानक गुस्सा उतारा कि उनकी हड्डियाँ तक कब्र से खोदकर निकाल लीं और इधर उधर फेंक दीं। गदर के बाद एक अंग्रेज अधिकारी ने पुनः हड्डियों को एकत्र कर कब्र में पहुँचा दिया।

रेजीडेंसी—लखनऊ की रेजीडेंसी ! जिसने आजादी के दीवानों के सीनों से बहते हुए गर्म लहू को देखा है। सारी इमारत में गोलों व गोलियों से बने निशान आज भी उस दिल दहलाने वाली जंगे आजादी की कहानी कह रहे हैं।

इस इमारत की नींव सन् 1780 में नवाब आसफुद्दौला की हुकूमत के वक्त पड़ी और यह सन् 1800 ई० में नवाब सआदत अली खाँ के समय बनकर तैयार हुई।

इस विशाल आलीशान इमारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त रेजीडेन्ट रहा करते थे। कलकत्ता कौंसिल के सदस्य 'शोर साहब' का इन रेजीडेन्टों के बारे में कहना था कि—

"ब्रिटिश सरकार इसलिए रेजीडेन्ट नियुक्त करती थी जिससे कि वह राज्य में रहकर वहाँ की सुख, शान्ति और खुशहाली को खत्म करते रहें।"

नवाब आसफुद्दौला के शासनकाल के दौरान मार्निगटन रेजीडेंट बनकर लखनऊ तशरीफ लाए मगर उनको लखनऊ की हवा कुछ रास न आयी और वह वापस लौट गये। उनके बाद क्रमशः तीन रेजीडेन्ट लखनऊ आये—जॉन ब्रिस्टा, मिस्टर चेरी और ली-लक्स। इस प्रकार नवाब आसफुद्दौला की हुकूमत के दौरान ही चार रेजीडेंट आए-गये। सन् 1797 में नवाब साहब के बाद वजीर अली खाँ गद्दीनशीन हुए, मगर अंग्रेजों ने उन्हें नवाब साहब की अवैध औलाद करार देकर

गद्दी से उतार दिया। अपनी ऐसी तौहीन वजीर अली बर्दाश्त नहीं कर सके उन्होंने एक दिन मौका ताड़कर मिस्टर चेरी को इस दुनियाँ से बाहर भेज दिया। इधर सआदत अली खाँ ने शासन का भार संभाला और उधर फिर नये रेजीडेंट 'मिस्टर लीडन' लखनऊ आए। इसके बाद क्रमश: जनरल बेली, डेविडसन, शेक्सपियर, मेन्डक, मेजर जॉन ले० कर्नल रिचमाँड रेजीडेन्ट बनकर लखनऊ पधारे। 29 (उनतीस) नवम्बर, सन् 1848 में रिचमांड महोदय के जाने के बाद मेजर बर्ड ने कुछ वक्त तक कम्पनी का कार्य-भार संभाला। उनके बाद स्लीमन लखनऊ आए और वह सात साल तक यहाँ के रेजीडेन्ट रहे। स्लीमन बड़ा ही बेरहम इन्सान था। एक दिन एक अरबी घोड़े ने गुस्से में आकर रेजीडेन्ट साहब को इसी रेजीडेन्सी में ऐसा पटका कि कई महीनों तक बिस्तर पर पड़े रहे ठीक भी हुए तो बेचारे उठने बैठने, चलने-फिरने को मोहताज।

उनके बाद आउटरम, कैण्टेन, हेज, चार्ली जेक्सन, हेनरी लारेंस रेजीडेन्ट बनकर लखनऊ आए।

'रेजीडेंसी' कभी लखनऊ की तमाम खूबसूरत इमारतों में से एक थी। जिसके आज केवल खण्डहर ही मौजूद हैं। रेजीडेन्सी में नीचे एक विशाल तहखाना बना हुआ है। जिसमें रेजीडेन्ट भयानक गर्मी से बचने के लिए आराम फरमाया करते थे। कहते हैं इस तहखाने तक एक लम्बी सुरंग भी आया करती थी जो बाद में बन्द कर दी गयी। आजादी की लड़ाई के दौरान इसी तहखाने में तमाम लोगों ने छुपकर अपनी जानें बचाई थी। 86 दिनों तक क्रान्तिकारियों ने इस इमारत पर अपना अधिकार जमाए रखा। मगर तभी कानपुर से कैम्पबेल अपनी विशाल फौज के साथ लखनऊ आ धमका और पुन: अंग्रेजों का इस पर अधिकार हो गया।

कैसर पसन्द या कोठी रोशनउद्दौला—यह इमारत नारी शिक्षा निकेतन कालेज के पीछे एवं सैनिक कल्याण भवन के ठीक सामने स्थित है। हाल ही में इसकी जीर्ण-शीर्ण दशा पर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ और इसके पुराने गिर रहे प्लास्टर को हटाकर पुन: नया प्लास्टर किया गया है। अच्छी-खासी मरम्मत और पुताई हो जाने के कारण अब यह इमारत एक बार पुन: खिल उठी है।

कोठी रोशनुद्दौला का वास्तविक नाम 'कैसरपसन्द' है। नसीरुद्दीन साहब के वज़ीर रोशनुद्दौला ने अपने आवास के लिए इसे बनवाया था। रोशनुद्दौला के उत्तराधिकारी इसको हासिल करने में असमर्थ रहे। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिद अलीशाह को यह इमारत बड़ी पसन्द आयी और उन्होंने कैसर पसन्द को जब अपनी बेगम 'माशूको बेगम' का निवास बनाया तो इसके दिन बहुर गये। माशूको बेगम के निवास से पूर्व भी कोठी रोशनुद्दौला की अच्छी तरह से मरम्मत करवाई गयी थी। इमारत की बाहरी एवं भीतरी खूबसूरती काबिले तारीफ थी।

कहते हैं मशहूर डकैत बहराम की नज़रों में यहाँ रखा खज़ाना चढ़ चुका था।

खुले रूप से लूटपाट करना नामुमकिन था। उसने एक रात सेंध काट दी। लेकिन बदनसीब पकड़ा गया और मौत की सजा हुई। मरने के बाद उसकी एक मूर्ति बनवा कर उसे कोठी की सबसे ऊपरी मंजिल पर रखवा दिया गया। अंग्रेजों के वक्त एक लम्बे अरसे तक इस इमारत में कोर्ट कायम रहा जहाँ अपराधिक मामलों पर सुनवाई होती थी। धीरे-धीरे यह इमारत रोशनुद्दौला कचहरी के नाम से मशहूर हो गयी। गदर के दौरान विद्रोहियों ने मिस जैक्सन, मिसेस ग्रीन तथा अनेक अंग्रेजों को इसके तहखाने में बन्द कर दिया और बाद में बाहर निकालकर सार्वजनिक रूप से इन अंग्रेजों की बड़ी बेरहमी से हत्या कर दी।

वर्तमान समय में इस इमारत में पुरातत्व विभाग व निर्वाचन कार्यालय मौजूद है जबकि कचहरी इसके ठीक पीछे बनी एक तीन मंजिली इमारत में स्थित है।

चौलखी कोठी—वालाकदर रोड पर दाहिनी तरफ आज भी इस दुमंजिली कोठी का एक अंश अभी बाकी है। कोठी का काफी बड़ा हिस्सा तोड़कर नई इमारत खड़ी कर दी गयी है जिसमें 'बालिका विद्या निकेतन' इण्टरमीडिएट कालेज कायम है। आर० एफ० सी० का गोदाम भी इसी कोठी के क्षेत्र में ही है।

गॉथिक शैली की इस खूबसूरत कोठी को एक नाई ने बनवाया था जिसे 'अजीमुद्दौला खान' का खिताब हासिल हुआ था। कीमती विदेशी झाड़-फानूस फर्नीचरों और कालीनों से दुल्हन की तरह सजी यह कोठी नवाब वाजिद अली शाह की नजरों में चढ़ गयी।

इस कोठी के इर्द-गिर्द चाइना बाजार गेट, हुजूरबाग का जलपरियों वाला फाटक, चाँदीवाली बारादरी व नगीने वाली बारादरी थी। कैसरबाग के करीब होने के कारण यह कोठी कुछ और ही ज्यादा नवाब साहब को पसन्द आ गयी। नवाब साहब ने खुद ही हज्जाम से इस कोठी को खरीदने की बात की। मुँह माँगी कीमत पर कोठी बिक गयी। नवाब साहब ने यह कोठी अपनी बेगम—'माशूक' को दे दी और इसे 'माशूक मंजिल' करार दिया। मगर नाम 'चौलखी कोठी' ही मशहूर रहा। बेगम हजरत महल ने इसी कोठी को अपना दौलतखाना बनाया था। फिरंगियों ने चौलखी कोठी को भी बड़ी बेदर्दी से लूटा। तमाम बेशकीमती फर्नीचर और कालीने-झाड़-फानूस यहाँ तक कि कोठी में लगे खूबसूरत पर्दे तक नहीं छोड़े।

चौलखी कोठी को नवाब वजीर मिर्जा ने बाद में किसी ऐसे आदमी से खरीद लिया था, जिसने नीलामी के दौरान यह कोठी अंग्रेजों से खरीदी थी। नवाब वजीर मिर्जा मलिका जमानियाँ के पोते और नवाब कैवाँ जाह के लड़के थे।

दिल आराम कोठी—छतर मंजिल के सामने ही दरिया के इस पार नवाब सआदत अली खाँ ने एक आलीशान कोठी बनवाई जो कि 'दिल आराम कोठी' के नाम से मशहूर हुई। इटालियन शैली में बनी तीन मंजिली यह कोठी बड़ी खूब-

सूरत थी ! नवाब सआदत अली एक लम्बे अरसे तक इस कोठी में रहे। दिल आराम कोठी के चारों तरफ एक-एक मन्दिर था इसके सामने वाला मन्दिर नदी के बीचों-बीच मौजूद था।

बादशाह बाग के दामन में बसे इस भवन को भी गदर के दैत्य ने न बख्शा। विद्रोहियों ने इस इमारत के करीब फौजी बैटरी कायम की तथा यहाँ तैनात तोपों ने बेलीगारद, कैसरबाग और छतरमंजिल तक मार कर ऐसा कहर ढाया कि फिरंगियों का दिमाग जवाब दे गया। दरिया के इस ओर से बरस रही मौत को शान्त करना अब बहुत जरूरी हो गया था। कैम्पबेल ने सेना की मदद से इस फौजी बैटरी को नष्ट कर दिया। दिल आराम कोठी का आराम इस गदर ने हराम कर दिया था।

इमारत कमजोर हो गयी। गदर के बाद मरम्मत करवाकर एक गैर सरकारी व्यक्ति इस इमारत में रहने लगा था। आज इसी कोठी की जगह लखनऊ विश्व-विद्यालय के रजिस्ट्रार आफिस की इमारत खड़ी है।

नूर बख्श कोठी—आज यह कोठी जिलाधीश महोदय का निवास स्थल है। इस दो मंजिली शानदार इमारत को नवाब सआदत अली खाँ ने बनवाया था। कोठी में नवाब साहब के पुत्र 'सादिक अली खाँ' रहा करते थे। जब गाजीउद्दीन हैदर ने हुकूमत की डोर पकड़ी तो यह कोठी उन्होंने 'मौतुमुद्दौला' उर्फ 'नवाब आगामीर' को दे दी। आगामीर बड़े ही धूर्त किस्म के इन्सान थे। अपने स्वार्थ के आगे उन्हें कुछ न सूझता। नवाब गाजीउद्दीन के आगामीर साहब खास वजीर थे। वजीर के पद पर रहकर शाही खजाने को जोंक की तरह चूसने में कोई भी कसर बाकी न छोड़ी। उन्होंने बड़ा दबदबा भी बना रखा था। आगामीर के खिलाफ बोलना किसी पागल सांड़ को छेड़ने के बराबर था। वजीर साहब के पास पैसे की कमी तो थी नहीं सो लखनऊ में तमाम कोठियाँ खड़ी कर दीं। जिनमें कोठी नूरबख्श के करीब ही बनी 'कोठी जहूरबख्श' मुख्य थी। इसके अलावा एक और इमारत भी बड़ी मशहूर है जिसे 'ड्योढ़ी आगामीर' के नाम से जानते हैं। सिटी स्टेशन के पीछे बनी इस विशालकाय खूबसूरत इमारत में आज 'राजकीय जुबिली इण्टर कालेज' मौजूद है।

आगामीर की सनक का भी जवाब नहीं था, जब ड्योढ़ी आगामीर का निर्माण कार्य चल ही रहा था कि बाहर से एक इत्र बेचने वाला लखनऊ आया। दिन भर लखनऊ टहला, मगर इत्र न बिका। खुश किस्मती उस इत्र बेचने वाले की वह आगामीर के पास आया और बोला—हुजूर सुबह से टहलते शाम हो गयी मगर अभी तक कोई ऐसा न मिला जो हमारा इत्र खरीद ले। बड़ा नाम सुना था लखनऊ का।

आगामीर को बात चुभ गयी, आखिर यह लखनऊ की तौहीन थी। इत्र से

भरे चार पीपों को उन्होंने मुँह माँगे दामों पर खरीद लिया।

इत्र बहुत था होता क्या, सो मजदूरों को हुक्म दिया कि सारा इत्र गारे में मिला दो। हुक्म पर फौरन अमल हुआ। इत्र गारे में डलवा दिया गया। कहते हैं वर्षों तक दीवारें महकती रहीं।

आगामीर साहब अपने से जुड़ी न जाने कितनी दास्तानें छोड़कर 7 मई, 1832 को दुनिया से कूच कर गए। 1837 में कोठी नूरबख्श मोहम्मद अली शाह के साहबजादे 'मिर्जा रफी उस्सानी' ने हासिल कर ली। इस कोठी के पीछे की तरफ एक इमामबाड़ा मौजूद था जिसमें काफी लम्बे अरसे तक 'चर्च मिशन प्रेस' कायम रहा।

'द लखनऊ एलबम' किताब के अनुसार गदर के दौरान हैवलक ने इस कोठी का भरपूर फायदा उठाया। बेलीगारद की निगरानी वह इसी कोठी से किया करता था। क्योंकि उस वक्त बेलीगारद क्रान्तिकारियों के कब्जे में था। गदर के बाद कोठी नूरबख्श में अवध के डिप्टी कमिश्नर का कार्यालय भी रहा।

बेगम कोठी—पाश्चात्य सभ्यता की बारिश में भीगते लखनऊ के मशहूर बाजार हजरतगंज और उसके दामन में आज जहाँ जनपथ मार्केट स्थित है वहीं कभी 'बेगम कोठी' मौजूद थी। यह कोई छोटी कोठी नहीं बल्कि एक लम्बी-चौड़ी इमारत थी। सन् 1844 ई० में अमजद अली शाह ने अपनी दूसरी बेगम 'मलका अहद के लिए इसका निर्माण करवाया था। गदर के दौरान इस कोठी पर क्रान्तिकारियों ने मजबूती से कब्जा जमा रखा था। 11 मार्च सन् 1857 को मेजर हडसन बेगम कोठी के पास ही गोली लगने के कारण गम्भीर रूप से घायल हो गया था। उसके तमाम सिपाहियों को बेगम कोठी से आने वाली गोलियों की बौछारों ने हमेशा के लिए शान्त कर दिया। कड़े संघर्ष के बाद अंग्रेजों ने कोठी पर अधिकार कर लिया। बेगम कोठी को घेरने वाली ऊँची चहार दीवारी गिरा दी गयी और इसकी इमारत को दुकानों व आफिसों में तबदील कर दिया गया।

पहली दुकान मैसर्स नौरोजी एण्ड कम्पनी, दूसरी मुंशी नवल किशोर प्रिंटिंग प्रेस, फिर मे० कर्सेटजी एण्ड सन्स की दुकानें थीं। बेगम कोठी में एक सरकारी डाकखाना काफी लम्बे अरसे तक कायम रहा। कहते हैं 'मिस्टर मैकन्जी' जो कि पोस्टमास्टर थे उन्हें बहुत सा धन यहाँ गड़ा हुआ मिला था।

तारावाली कोठी—नसीरुद्दीन हैदर को ज्योतिष विद्या से बेइन्तिहा मोहब्बत थी। इसी लगाव ने उन्हें खगोल की ओर खींचा। उनके दिमाग में एक ख्याल घर कर गया कि एक ऐसी वेधशाला का निर्माण किया जाए जो लोगों के लिए एक मिसाल हो। इस तरह की फिजूलखर्ची के लिए तो अवध के नवाब मशहूर ही रहे हैं। नसीरुद्दीन ने अपने इस ख्वाब को अंजाम देने के लिए सआदत अली खाँ के मकबरे व मोती महल के बीच एक आलीशान इमारत बनवायी। इसका निर्माण

सन् 1827 में शुरू हुआ और सन् 1832 में यह बनकर तैयार हो गयी।

'गुजिश्ता लखनऊ' से प्राप्त जानकारी के अनुसार नसीरुद्दीन की आँख बन्द होते ही 1847 तक किसी तरह नवाब वाजिद अली शाह उड़ती नजरों से इसकी देखरेख करवाते रहे। इसमें कोई खास दिलचस्पी उन्होंने नहीं ली। इसी बीच वेधशाला का आधार स्तम्भ बने कर्नल वैलकावस खुदा को प्यारे हो गए।

वैलकावस साहब उच्चकोटि के खगोल शास्त्री थे। उनके बाद विलायत से मंगवायी गयी तमाम बेशकीमती दूरबीनों से लगाव करने वाला कोई न बचा था। कहते हैं इसमें लगी मुख्य दूरबीन को वाजिद अली शाह ने एक खिलौना समझकर 'हैदरी' नामक वैश्या को दे दिया था। इस वेधशाला के सारे यन्त्र धीरे-धीरे गायब होते गए।

'लखनऊ गजेटियर' से यह स्पष्ट होता है कि वेधशाला का तहस-नहस 1857 की गदर में हुआ। क्रान्तिकारियों ने यहाँ एक-एक चीज की ईंट बजा कर रख दी। वेधशाला का जिक्र 'मेजर बर्ड' ने भी किया है—इसकी देख-रेख की जिम्मेदारी जिस अंग्रेज अधिकारी के हाथों में थी उसे 1700 रु० माहवार तनख्वाह मिलती थी। वक्त बताने के लिए तोपें दागी जाती थीं। यहाँ ज्योतिष और गणित संबन्धी शोध कार्य होता था। शोध कार्य में सुविधा हेतु 21 अंग्रेजी किताबों का उर्दू में अनुवाद करवाया गया था। इस वेधशाला में एक कीमती चुम्बकीय पत्थर भी था। यही नहीं नवाब साहब इस वेधशाला को 6000 रुपया सालाना तो देते ही थे साथ ही साथ 200 रुपया हर माह और देते थे। यह धन यहाँ काम कर रहे कर्मचारियों के वेतन को छोड़कर था।

इसी तारावाली कोठी में ही मौलवी अहमद उल्ला शाह का बाकायदा दरबार लगता था। नई-नई योजनाएँ बनती थीं। इमारत पर क्रान्तिकारियों ने मजबूती से कब्जा कर रखा था। सर कैम्पबेल को यहाँ भी कड़ा संघर्ष करना पड़ा था। गदर में इसे चारों ओर से घेरने वाली चहार दीवारी धूल में मिल गयी।

हयात बख्श कोठी—नवाब सआदत अली खाँ द्वारा बनवाई गई यह खूबसूरत कोठी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का निवास स्थान है। आज यह 'राज भवन' के नाम से मशहूर है। नसीरुद्दीन हैदर की हुकूमत के दौरान 'कर्नल राबर्टस' ने इस इमारत में डेरा डाल दिया था।

यह कोठी 'सर जान शोर बैंक' को भी बड़ी पसन्द आयी। वह अवध के तत्कालीन चीफ कमिश्नर थे। मेजर बैंक के इस कोठी में रहने के कारण लोग इसे 'बैंक हाउस' कहने लगे। बैंक का 21 जुलाई सन् 1857 को इन्तकाल हो गया था। मेजर हडसन ने भी इसी कोठी में अपने प्राण त्यागे। 18 मार्च 1858 तक यह इमारत क्रान्तिकारियों के कब्जे में रही। इस पर दोबारा अधिकार करने के लिए 'सर एडवर्ड ल्यूगार्ड' को कड़ा संघर्ष करना पड़ा।

कोठी हयातबख्श को गदर के दौरान काफी नुकसान पहुँचा। जब सारे अवध में क्रूरता से क्रान्तिकारियों का सफाया हो गया और सरकार के कदम दोबारा जम गए तो कोठी हयात बख्श का सौन्दर्यीकरण होना शुरू हुआ। यह कार्य 1873 में पूरा हुआ। उस वक्त 'सर जार्ज कूपर' अवध के कार्यकारी आयुक्त थे।

'द लखनऊ एलबम' के मुताबिक सड़क के दाहिनी तरफ एक और आलीशान इमारत थी। इसमें 'मेसर्स पीक ऐलन एण्ड कम्पनी थी। सन् 1907 में इमारत का थोड़ा सा हिस्सा तुड़वाकर एक विशाल कमरा बनवाया गया। इसी कमरे में अब अतिथियों की खिदमत में भोज का आयोजन किया जाता है। कोठी के चारों ओर बगीचा है जो इसकी खूबसूरती को और भी निखारता है। बगीचे में संगमरमर की छतरी है। यहाँ लगने वाली पुष्प प्रदर्शनी देखने के लिए आम जनता को इस हसीन इमारत में आने का मौका मिलता है।

इमामबाड़ा

इमामबाड़ा आगा बाकर—चौक-मण्डी के करीब ही बना 'इमामबाड़ा आगा बाकर' लखनऊ का सबसे पुराना इमामबाड़ा है। इसे नवाब शुजाउद्दौला के वक्त में मुसाफिरखाने के पास आगा बाकर खाँ ने बनवाया था। आगा बाकर खाँ आगा इस्माइल दिलावर जंग के चचा थे। वह अपने भतीजे को बहुत चाहते थे। उसी की ख्वाहिश पर उन्होंने एक इमामबाड़ा बनवा दिया।

इमामबाड़ा जिस जगह पर बना वहाँ चूड़ीवालियों की एक बड़ी बस्ती आबाद थी। शीशे की रंग बिरंगी चूड़ियों के अलावा लाख की चूड़ियाँ तक यहाँ बनती थीं। इमामबाड़े के बनने से पहले इस बस्ती को उजाड़ दिया गया। जनाब आगा बाकर खाँ 5000 हजार घुड़सवारों के रिसालदार थे। इनके भतीजे आगा इस्माइल साहब जब कालपी के हाकिम होकर लखनऊ से रवाना हुए तो रास्ते में मराठों से हुई मुठभेड़ में वह मारे गये। आगा बाकर को जब यह खबर मिली तो वह आपे से बाहर हो गए और फ़ौज लेकर चल पड़े। मगर अफसोस यह कि मराठों से दो-दो हाथ हो, इससे पहले ही किसी ने ठण्डाई में जहर देकर उन्हें खुदागंज पहुँचा दिया।

इस इमामबाड़े में ईरानी तरीके पर मजलिसें होती थीं। 1857 की जंग में न जाने कितनी इमारतें बरबाद हो गयीं उनमें यह इमामबाड़ा भी शामिल था। अंग्रेजों ने इसे तुड़वा डाला और जमीन अपने कब्जे में ले ली। बाद में शाह आलम शाह के साहबजादे हैदर शिकोह शाह ने इस इमामबाड़े की जमीन को दोबारा हासिल किया और उस पर टीन की चद्दरें डलवा दीं।

इस इमामबाड़े में मिर्जा सुलेमान शिकोह व उनके लड़के शाह आलम शाह की कब्रें हैं।

इमामबाड़ा गुफरान माअब —इमामबाड़ा गुफरान माअब चौक मण्डी के ठीक पीछे मौलाना कल्बे हुसैन मार्ग पर स्थित है। इस इमामबाड़े को सैय्यद दिलदार ने 1227 हिजरी में बनवाया था। इन्हें शाही दरबार की तरफ से 'गुफरान माअब' का खिताब हासिल हुआ था। 'सैय्यद दिलदार अली' गुफरान माअब हिन्दुस्तान

मे शिया समुदाय के पहले धर्मगुरु थे, जिन्होंने सबसे पहले शियों को नमाजे जुमा पढ़ानी शुरू की थी।

इमामबाड़े में उसी वक्त की एक ज़री आज भी रखी हुई है। इमामबाड़े में 'गुफरान माअब' की कब्र के करीब ही उनके छोटे साहबजादे सैय्यदुल आलेमा की कब्र है। इस कब्र पर लगे संगमरमर के एक विशाल पत्थर को बड़ी सावधानी से बखूबी तराशा गया है। जिसकी खूबसूरती देखते ही बनती है। इतना बड़ा और खूबसूरत संगमरमर का पत्थर शायद ही किसी बादशाह की कब्र पर हो।

इस वक्त इमामबाड़े की नये सिरे से मरम्मत जारी है। इसकी छतों पर लगी धन्नियों की जगह अब स्लेपदार छतें बनवायी गयी हैं। ऊपरी मंजिल पर एक बड़ी लाइब्रेरी है। इमामबाड़े के विशाल सहन में सैकड़ों कब्रें हैं जबकि दूसरी तरफ इमामबाड़े की ज़मीन पर ही जबरन लोगों ने कब्जा जमा रखा है।

'बड़ा इमामबाड़ा' या 'आसफी इमामबाड़ा'—इमामबाड़े का शाब्दिक अर्थ है 'प्रार्थना का स्थान'। इस इमामबाड़े को नवाब आसिफुद्दौला ने सन् 1784 में बनवाया था। नवाब साहब बड़े रहमदिल इन्सान थे। किसी का दुख दर्द वह नहीं देख पाते। उनके कार्यकाल में भयानक अकाल पड़ा। लोगों को रोजगार देने के उद्देश्य से उन्होंने आसफी इमामबाड़े और रूमी दरवाजे की नींव डलवा दी। हजारों लोगों की दो जून की रोटी का बन्दोबस्त हो गया। कहते हैं इमामबाड़ा दिन में जितना बनता उतना रात में गिरा दिया जाता। 24 घण्टे काम चला करता। जो लोग दिन में काम करने में अपनी तौहीन समझते वे रात के वक्त हजारों मशालों की रोशनी में काम करते। इस तरह से 22,000 लोग अपना पेट पाल रहे थे।

इमामबाड़े पर आयी लागत लगभग 'एक लाख स्टर्लिंग' अथवा बीस लाख रुपये बतायी जाती है। ईलियट के अनुसार—"नवाब आसफुद्दौला ने सारे भारत से तमाम वास्तुशिल्पियों को आमन्त्रित किया तथा उनमें एक ऐसे इमामबाड़े का नक्शा बनाने की प्रतियोगिता रखी जो किसी भी इमारत की नकल न हो और खूबसूरती में भी बेजोड़ हो।" इस प्रतियोगिता में मशहूर वास्तुकार 'किफायतुल्ला' विजयी रहे। उन्होंने एक बेजोड़ इमारत का नक्शा तैयार किया।

श्री बसन्त कुमार वर्मा अपनी किताब 'लखनऊ' में लिखते हैं—"एक रवायत के मुताबिक दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले से बंगाल के नवाब ने बहुत बड़ी संख्या में जमर्रूद खरीदना चाहा, सौदा तय हो गया। जमर्रूद से लदे हुए 32 हाथी दिल्ली से बंगाल की तरफ जा रहे थे। जब यह कारवाँ अवध की सरहद से गुजर रहा था तभी आसिफुद्दौला ने उसमें से 12 हाथी अपने सिपाहियों की मदद से लुटवा लिए। यह माल उस वक्त दो हजार करोड़ रुपये का था।"

किशोरी लाल गोस्वामी के अनुसार जब इस इमामबाड़े की बुनियाद खोदी जा रही थी तो मजदूरों को जमीन में गड़ा खजाना मिला। यह खजाना 'खजान-

ए-गैब' के नाम से मशहूर हुआ। कहते हैं नवाब साहब ने सारे खजाने का उपयोग करना उचित न समझा। सिर्फ दो अरब रुपये निकाल लिये। जो इमामबाड़े के अलावा अन्य दूसरी इमारतों के बनवाने में खर्च हुए। बाकी बचे खजाने को गहराई में दबा दिया गया। उसके ऊपर इमामबाड़े की विशाल इमारत खड़ी कर दी गयी। इमामबाड़े में बनी 'भूल-भुलैया' को 'इमारत-ए-गैब' भी कहा जाता है। इसमें एक ही तरह के 489 दरवाजे हैं। इस भूल भुलैया का सम्बन्ध एक गुप्त सुरंग से था। यह सुरंग जमीन में दबे खजाने तक पहुँचती थी। खजाने तक पहुँचने का रास्ता बावली में भी कहीं था। अंग्रेजों ने इस गुप्त रास्ते को खूब ढूंढ़ा पर असफल रहे बाद में सुरंग को बन्द कर दिया गया।

लखनऊ की इस भूल-भुलैया के सम्बन्ध में श्री भगवत शरण उपाध्याय जी ने कहा है—

"लखनऊ मेडिकल कालेज के पास अवध के नवाब के इमामबाड़े की भूल-भुलैया में चक्कर लगाने वालों को शायद गुमान भी न होगा कि इसके पीछे हजारों साल का इतिहास है और उसका मूल हजारों मील दूर ग्रीस के दक्खिन क्षेत्र में स्थित टापू में है। भूल-भुलैया का चक्कर आज मनोरंजन का साधन है। पर एक जमाना था—जब यह खतरे का जरिया थी। अनेक बार इसका प्रयोग खतरनाक दुश्मनों की कैद के लिए हुआ करता था। लखनऊ के इमामबाड़े की भूल-भुलैया की कितनी ही रोमांचक कहानियाँ बन जाती हैं।" इस भूल-भुलैया की एक खुसूसियत यह है कि यदि इसके ऊपर के आख़िरी द्वार पर खड़े होकर आवाज लगायी जाए तो नीचे प्रथम प्रवेश द्वार पर खड़ा व्यक्ति उसे साफ सुन सकता है।

आसफी इमामबाड़े में राजपूत व मुगल वास्तुकला के साथ-साथ गोथिक शैली के भी दर्शन होते हैं। बिना लोहे व लकड़ी के प्रयोग से बना इसका हाल दुनियाँ का सबसे बड़ा हाल है। इसकी लम्बाई 163 फुट, चौड़ाई 53 फुट, ऊँचाई साढ़े 49 फुट है। दीवारों की मोटाई 16 फुट है। हाल के दोनों ओर एक-एक कमरा है। मुख्य हाल के मध्य नवाब आसिफुद्दौला की कब्र है। संगमरमर के पत्थर का बना छोटा सा बरामदा नवाब साहब का मकबरा है। इसके चारों ओर चाँदी का घेरा बना हुआ है। सोने के बारीक तारों से बनी एक पगड़ी भी रखी है।

सारे हाल को झाड़-फानूस आदि से सजाया गया है। सजावट का काफी सामान ब्रिटेन से मंगवाया गया था। इसके लिए एक लाख रुपये 'डा० फिल्टन' ने भी दिये थे। मगर अफसोस नवाब साहब बेल्जियम से आ रहे साजो-सामान को न देख सके। जब तक यह सामान लखनऊ पहुँचे वह खुदा के घर पहुँच चुके थे। इमामबाड़े की बाहरी माप से इसकी विशालता का अंदाजा लगाया जा सकता है। लम्बाई 303 फुट, चौड़ाई 163 फुट और ऊँचाई 63 फुट है।

इमामबाड़े की मुख्य इमारत तक पहुँचने से पूर्व दो विशालकाय खूबसूरत

दरवाजों को पार करना पड़ता है। इन्हीं दोनों दरवाजों के बीच गोल पार्क है। जिसके करीब मोहर्रम की छः तारीख को रात नौ बजे आग के दहकते अंगारों पर मातमी नंगे पैर चलते हैं।

बावली—इमामबाड़े का एक और आकर्षण है—'बावली'। बावली तक पहुँचने के लिए साधारण ढंग से बना एक प्रवेश द्वार है। गहरे और विशाल इस कुएँ पर आठ पहलों वाला महल है। जिसे 'आबी महल' कहा जाता है। गर्मियों में यह बड़ा आरामदेह था। खुसूसी मेहमान इसी में ठहराये जाते थे। नवाब आसिफुद्दौला के वक्त में वारेन हेस्टिंग्स साहब जब कलकत्ते से लखनऊ तशरीफ लाए तो इसी महल में ठहराए गए थे।

कहते हैं कि जब नवाब वाजिद अली शाह लखनऊ से जाने लगे तो अपने खजाने की चाबी बावली में डलवा दी। खजाना साथ ले जाना मुनासिब न था। चाबी के गुच्छे के साथ ताँबे पर बना हुआ खजाने का नक्शा भी था।

काला इमामबाड़ा—पीरबुखारा मोहल्ले में मौजूद इस इमामबाड़े को नवाब कासिम अली खाँ 'सालारजंग' ने बनवाया था। नवाब कासिम अली खाँ, 'सालारजंग' नवाब आसफुद्दौला के मामू थे। यह इमामबाड़ा कभी अपनी बेमिसाल खूबसूरती के लिए बड़ा मशहूर था। इमामबाड़े का जैसा नाम वैसा ही रूप था। इसकी दरो दीवार तक काली थी, जिस पर बड़े ही खूबसूरत ढंग से कुरान की आयतें लिखी गयी थीं। आज खण्डहर हो रहे इस इमामबाड़े का काला प्लास्टर उखड़ चुका है, लेकिन कहीं-कहीं पर अब भी मौजूद प्लास्टर नजर आ ही जाता है। इसके सामने काफी बड़ा सहन है। इमामबाड़े में सात मेहराबदार दरवाजे पंक्तिबद्ध हैं। यहाँ रखा 300 साल पुराना चन्दन की लकड़ी का ताजिया आज भी यथावत है। काले इमामबाड़े के ठीक बाईं तरफ एक विशालकाय गुम्बद वाली इमारत मिर्जा अली खाँ का मकबरा है जो कि सालारजंग के भाईजान थे। मकबरे के करीब ही 'तकी साहब' के खानदान की कब्रें थीं जो कि अब सिर्फ खण्डहर में तब्दील हो चुकी है। 'तकी साहब' मिर्जा अली खाँ के साले थे। इमामबाड़े के सामने साधारण शैली मे सफेद चूने से पुती मस्जिद 1190 हिजरी की है।

आज से तकरीबन चालीस-पचास साल पहले इसी इमामबाड़े के विशाल क्षेत्र में आम करौंदे, अमरूद, नींबू आदि के तमाम पेड़ हुआ करते थे। जहाँ आज या तो बिखरी लखौड़ी ईंटें नजर आती हैं या फिर गन्दगी।

काले इमामबाड़े के करीब पीर बुखारा मोहल्ले में ही हाजी बेगम का इमामबाड़ा था। इसका अब नामोनिशान मिट चुका है। पीर बुखारा शहर के तमाम पुराने मोहल्लों से एक है। शाह मीना साहब के भाई पीर बुखारा शाह यहीं आकर रहने लगे थे। सो यह सारा इलाका ही 'पीर-बुखारा' के नाम से मशहूर हो गया।

इमामबाड़ा जैनुल आबदीन—चौक पोस्ट आफिस से थोड़ा सा ही आगे बढ़ने

पर एक काफी बड़ा तिराहा है, यहीं से ठाकुर गंज की तरफ जाने वाली रोड पर कालीचरण डिग्री कालेज से मिला हुआ 'इमामबाड़ा जैनुल आबदीन' है। यद्यपि इमामबाड़े में अब छतें तो मौजूद नहीं हैं परन्तु इनकी दीवारें और उन पर बने अत्यन्त आकर्षक बेलबूटे आज भी आखिरकार मन को बरबस खींच ही लेते हैं।

इसके बाईं तरफ का हिस्सा गिर चुका है। इस इमामबाड़े को मियाँ अल्मास के जिगरी दोस्त ने जो कि 'कौड़ी वाले' के नाम से मशहूर थे बनवाया। शाही वक्त में दोनों ही शख्स लखनऊ के जाने-माने मशहूर अमीरों में गिने जाते थे।

इमामबाड़े के सहन के एक बड़े हिस्से में लोगों ने अपने मकान बनवा लिये हैं। लिहाजा यह इमामबाड़ा इतना अन्दर पड़ गया है कि अधिकाँशतः लोगों की इस पर नजर ही नहीं पड़ पाती है।

झाऊलाल का इमामबाड़ा—राजा झाऊलाल कौम के 'कायस्थ' थे। नवाब शुजाउद्दौला के वक्त फैजाबाद में शाही अस्तबल के दारोगा थे। झाऊलाल को 'बहू बेगम' और 'नवाब बेगम' बहुत मानती थीं। वह काफी दिनों तक फैजाबाद में ही रहे जबकि नवाब आसफुद्दौला लखनऊ आ चुके थे। नवाब आसफुद्दौला राजा झाऊलाल के विचारों से बड़े खुश रहते थे, फैजाबाद पैगाम भेजा कि लखनऊ आ जाओ। राजा झाऊलाल ने लखनऊ आकर तोपखाने के दारोगा का पद भार संभाल लिया।

अब आलम यह था कि न नवाब साहब को झाऊलाल के बिना चैन पड़ता और न झाऊलाल को नवाब साहब के बिना। एक तरह से वह अब नवाब साहब का दाहिना हाथ हो चुके थे। राजा झाऊलाल बड़े ही दूरदर्शी ईमानदार और नेक इन्सान थे। ऐसा कोई भी आदमी इन फिरंगियों की नजरों में खटकता था जो नवाबों के हित की बात सोचे। रजीडेन्ट सर जान शोर ने आखिरकार झूठा इल्जाम लगाकर झाऊलाल को दरबार से निकलवाकर ही दम लिया। यद्यपि नवाब साहब यह बात अच्छी तरह जानते थे कि उन पर जो इल्जामात लगाए गए हैं वह सरासर बेबुनियाद हैं। मगर कर भी क्या सकते थे। कलेजे पर पत्थर रख लिया। उस दिन से वह कुछ खोये-खोये से रहने लगे।

ठाकुरगंज में मौजूद 'शिया बेतुलमाल' को ही 'झाऊलाल का इमामबाड़ा' कहा जाता है। 'शिया बेतुलमाल' और 'बाबा गोमतीदास का मन्दिर' जो कि पास-पास ही बने हैं। तत्कालीन हिन्दू मुस्लिम भाईचारे की जीती जागती मिसाल है। जहाँ इस मन्दिर को नवाब आसफुद्दौला ने बनवाया था वहीं राजा झाऊलाल ने 'शिया बेतुलमाल'।

राजा झाऊलाल का इन्तकाल इराक में हुआ था।

मियाँ तहसीन का इमामबाड़ा—तहसीन मियाँ की मस्जिद के ठीक पीछे ही एक खुले मैदान में साधारण शैली में बना यह इमामबाड़ा स्थित है। आज जहाँ

इमामबाड़ा मौजूद है वहाँ पहले एक विशाल हाता था जो कि बाद में एक अस्तबल के रूप में तब्दील कर दिया गया।

नवाब आसफुद्दौला के इन्तकाल हो जाने के बाद नवाब सआदत अली खाँ से मियाँ तहसीन कुछ खिचे-खिचे से रहने लगे थे। लखनऊ शहर का यह एकमात्र पहला इमामबाड़ा था जो कि 'सर जान बेली' की देखरेख में बना। 24 अगस्त सन् 1813 ई० में उन्होंने अवध के तत्कालीन रेजीडेन्ट के साथ बैठकर एक वसीयतनामा तैयार किया। तहसीन साहब का वसीयत नामा इस प्रकार है— "एक लम्बा अरसा हुआ मैंने अकबरी दरवाजे के करीब चौक में कुछ जमीन अपने दफन होने के लिए खरीदी थी। अपनी बाकी बची रकम से एक मस्जिद एक अस्तबल और बाजार तामीर करवाया था। इस बाजार और मस्जिद से होने वाली कुल आमदनी मैं मस्जिद के गरीब, असहाय व फकीरों को तकसीम (बाँट) कर दिया करता था। मेरी तमन्ना है कि मरने के बाद आप हाते में मेरे जिस्म को दफन करा दें और एक पुख्ता मकबरा भी मेरी कब्र पर इस रकम से बनवा दें जो कि मैं कम्पनी सरकार के खजाने में पहले से ही जमा किए दे रहा हूँ। मस्जिद और बाजार की उन तमाम दुकानों का माहवारी किराया जो कि अब तक चितरा मल सेठ के नौकर वसूल करके फकीरों व असहायों को बाँटा करते हैं। मेरे बाद भी इसी तरह वे ही वसूल करते रहेंगे और मस्जिद तथा मकबरे के गरीब, फकीरों में वसूली की यह रकम तकसीम की जाया करेगी।" मरने के बाद मियाँ की यह आखिरी ख्वाहिश पूरी कर दी गयी उन्हें इसी इमामबाड़ की गोद में सुला दिया गया। मोहर्रम के दिनों में 10 दिन तक इस इमामबाड़े में मजलिसें होती हैं।

हुसैनाबाद-इमामबाड़ा—'हुसैनाबाद इमामबाड़ा' को 'प्रकाश महल' के नाम से भी जाना जाता है। इसे मोहर्रम के दिनों में इस कदर सजाया जाता है जिसे देखकर लगता है मानो इमामबाड़े से रोशनी फूट कर निकल रही हो। इसकी इसी आकर्षक सजावट के कारण लोग इसे 'प्रकाश महल' कहने लगे।

इमामबाड़े की बनावट को देखकर अगर इसे लखनऊ का ताजमहल कहा जाए तो अनुचित न होगा। इसको 1829 ई० में मोहम्मद अली शाह ने बनवाया था। इमामबाड़ा चारों ओर से ऊँची चहारदीवारी से घिरा है। मुख्य द्वार के ठीक सामने पीतल की एक बड़ी मछली बनी है। द्वार के दायें व बायें पीतल की ही लम्बी जंजीर हाथ में लिए हुए दो सुन्दर नारियों की मूर्तियाँ हैं। यह दोनों ही जंजीरें दरवाजे के सबसे ऊपरी भाग से जुड़ी हुई हैं।

इमामबाड़े के बीचोंबीच में एक लम्बी नहर है। इसके दोनों ओर हँसते-मुस्कुराते फूलों से युक्त गमले रखे हैं। नहर के मध्य लोहे का पुल है। इमामबाड़ा एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। इसकी बाहरी दीवार के काले रंग के भागों पर पवित्र वचन लिखे हैं। मुख्य गुम्बद इसकी खूबसूरती को और निखारता है।

इमामबाड़े की भीतरी दीवारों पर सुन्दर डिजाइनें हैं। तमाम छोटे-बड़े शाही आइने रखे हैं। मुख्य हाल कीमती झाड़ फानूसों से दुल्हन की तरफ सजा है। बायीं तरफ सिंहासन रखा है जिस पर चाँदी की पर्त चढ़ी है। मोम और चन्दन के बने लकड़ी के ताजिये देखने योग्य हैं। आश्चर्यजनक कार्यकुशलता का नमूना है बोतल में बना ताजिया। यह लोगों के लिए हैरत का एक केन्द्र है कि इस छोटी मुँह वाली बोतल में आखिर कैसे इतना सुन्दर ताजिया बनाया गया। हाथी दाँत का ताजिया भी बड़ा ही खूबसूरत है। इसी मुख्य हाल में बादशाह मोहम्द अली शाह और उनकी माँ की कब्र है। उन्हें चारों ओर से चाँदी के घेरे में घेर दिया गया है। इमामबाड़े का सम्पूर्ण फर्श काले व सफेद संगमरमर के पत्थर से निर्मित है।

नहर के दाहिनी ओर छोटा सफेद मकबरा है। इसके ठीक सामने ही एक और मकबरा मौजूद है। दाहिनी तरफ का मकबरा नवाब शुजाउद्दौला ने अपनी बेटी 'असिया' के लिए बनवाया था। इसे 'असिया का मकबरा' भी कहते हैं। शाहजादी के मकबरे की मेहराबों पर कुरान की पवित्र आयतें लिखी हैं। शाहजादी की कब्र के दोनों ओर खानदान के दूसरे सदस्यों की मजारें बनी हैं। दाहिनी ओर एक छोटी मस्जिद है जिसका इस्तेमाल केवल राजघराने के लोग ही किया करते थे। मस्जिद के सामने शाही हमाम है।

जिस प्रकार वाजिद अलीशाह ने कैसरबाग को जन्नत बना दिया था वैसे ही मुहम्मद अली शाह ने अपनी पाँच साल की हुकूमत के दौरान हुसैनाबाद को ऐसा आबाद किया कि उनके बाद भी यहाँ बनी इमारतें अपनी निर्माता की प्रशंसा किये नहीं अघातीं हैं।

बेगम मलका जमानी का इमामबाड़ा—गोलागंज के करीब लोगों की नज़रों से दूर इस इमामबाड़े के आज मात्र खण्डहर ही मौजूद हैं। यह इमामबाड़ा खूबसूरती में अपने वक्त के किसी भी इमामबाड़े से कम खूबसूरत नहीं था।

इमामबाड़े के दाहिनी तरफ बनी मस्जिद भी इसी के अन्तर्गत आती थी। अब इसके काफी बड़े हिस्से में तमाम मकान बन चुके हैं। इमामबाड़े में सामने की ओर 5 दर कतार में बने हैं। यदि कुछ बाकी रह गया है तो मात्र साढ़े चार फुट लखौड़ी ईंटों की दीवारें, छतों की विशालकाय धन्नियाँ। इनमें से भी अधिकांश गायब हो चुकी हैं और कुछ मिट्टी के ढेर तले दबी हैं। 22 दिसम्बर सन् 1843 ई० को मलका जमानी का इन्तकाल हो जाने के बाद उन्हें इसी इमामबाड़े में दफना दिया गया।

जनाबे आलिया का मकबरा—गोलागंज में ही इमामबाड़े के दाहिनी तरफ एक ऊँचे गोलाकार चबूतरे पर यह विशाल मकबरा आज अपनी दुर्दशा पर आँसू बहा रहा है। लखनऊ के गुम्बदों की प्रशंसा करनी होगी कि हर इमारत का गुम्बद अपने दामन में कुछ न कुछ विविधता समेटे हुए है। जनाबे आलिया के मकबरे का

गुम्बद इसका जीता जागता उदाहरण है। कहना गलत न होगा कि गुम्बद की बनावट की वजह से ही इस मकबरे की खूबसूरती दुगनी हो गयी है। मकबरे के एकमात्र प्रवेश द्वार तक पहुँचने के लिए ज़ीना है। प्रवेश करते ही बायीं ओर बना जीना मकबरे के सबसे ऊपरी भाग की ओर चला जाता है। पत्थर की खूबसूरत जालियाँ और मेहराबें इसके आकर्षण का मुख्य केन्द्र हैं।

जनाबे आलिया हिन्दू थीं और नवाब शुजाउद्दौला को ब्याही थीं। नवाब सआदत अली खाँ जनाबे आलिया (रानी छतरकुँवर) की ही औलाद थे। जब जनाबे आलिया की मृत्यु हुई तो उन्होंने अपनी माँ के लिए इस खूबसूरत आलीशान मकबरे का निर्माण करवाया।

शाहनजफ इमामबाड़ा—गाज़ीउद्दीन हैदर ने सन् 1814 ई० में अपने वालिद सआदत अली खाँ के गुजर जाने के बाद हुकूमत संभाली। उन्हें भी इमारतें बनवाने का बड़ा शौक रहा, अपनी हुकूमत के दौरान उन्होंने लखनऊ में तमाम खूबसूरत इमारतें बनवाईं जिनमें छतर मंजिल, मुबारक मंजिल, शाहनजफ आदि प्रमुख हैं।

20 अक्टूबर सन् 1827 ई० को गाज़ीउद्दीन का इन्तकाल हो गया। नवाब साहब की यह आखिरी इच्छा थी कि मरने के बाद उन्हें शाहनजफ में ही दफनाया जाए आखिरकार उनकी यह आखिरी ख्वाहिश भी पूरी हुई। इस इमामबाड़े को बनवाने से पहले नजफ पर्वत (इराक) पर बनी मो० साहब के दामाद हजरत अली की मज़ार की पवित्र मिट्टी लखनऊ लायी गयी और हू-बहू वहाँ बनी मजार की तरह ही इस शाहनजफ इमामबाड़े की इमारत का निर्माण हुआ जिससे इसका नाम शाहनजफ पड़ा।

शाहनजफ को बनवाने का उद्देश्य यह था कि जो लोग करबलाय मौला की ज़ियारत के लिए करबला नहीं जा सकते हैं वे यहीं हज़रत अली की ज़ियारत कर सकें।

गाज़ीउद्दीन बड़े ही रहम दिल इन्सान थे। उन्होंने तमाम गरीब लड़कियों की शादियाँ करवायी। एक दिन नवाब साहब सैर पर निकले उनकी निगाह एक बेवा औरत और उसकी लड़की पर पड़ी। गरीबी की मार से चोट खाई इन दोनों औरतों पर उन्हें बड़ा तरस आया रुक कर उनका हाल चाल पूछा।

उनकी कहानी सुनकर नवाब साहब भारी मन से महल लौट आए और अपने वज़ीर आगामीर से कहा कि उस बेवा को बेटी की शादी के वास्ते 500 अशर्फियाँ भिजवा दो। वज़ीर ने उस तक अशर्फियाँ भिजवाने के बजाय शाम के वक्त सारी अशर्फियाँ दहलीज पर इधर-उधर फैलवा दी ताकि बादशाह समझे की शादी के लिए इतनी रकम कम होने के कारण उस बेवा ने उन्हें वापिस कर दी है। बादशाह ने जब दहलीज पर अशर्फियाँ छितरी देखीं तो कुछ देर सोच कर 'सुखपाल' के

हाथों दुगनी अशर्फियाँ पहुँचवा दीं। बेचारे वज़ीर साहब अपना सा मुँह लिए रह गये।

हुसैनाबाद इमामबाड़े में बना एकमात्र विशाल गुम्बद बड़ा ही खूबसूरत है। गुम्बद के ऊपर बनी मीनार कभी पूरी सोने की हुआ करती थी, मगर फिरंगियों की नापाक नजरें जब इस पर गयीं तो इसे तुड़वा दिया। जब यह दोबारा बनी तो इस पर केवल सोने का पानी ही चढ़ाया जा सका।

इमामबाड़े का बरामदा खूबसूरत झाड़फानूसों से सजा है। गाज़ीउद्दीन ने जब इसको बनवाया तो तमाम झाड़फानूस आसफी इमामबाड़े से यहां उठा लाये। हाल में प्रवेश करते ही सामने की ओर चाँदी के ताजिए रखे हैं जिनमें दो छोटे और एक बड़ा है। इनके ऊपर मखमल की चादर तनी है। हाल में अनेक शाही आईने रखे हैं।

इमामबाड़े में पहली मोहर्रम से लेकर ग्यारह मोहर्रम तक तमाम तकरीबात होते हैं जिन पर होने वाले खर्च का 1/4 भाग सरकार देती है और बाकी का खर्च ट्रस्ट उठाता है। इस दौरान गरीबों को शीरमाल पुलाव आदि बाँटा जाता है। सात व आठ तारीख को सजावट होती है। जिसका एफतिताह जिला अधिकारी महोदय करते हैं, आठ तारीख को यहीं पर 'आग का मातम' मनाया जाता है।

इसी के साथ पहली से 11 तारीख तक मजलिसों का एहतिमाम होता है जिसमें जिले एवं बाहर से भी अनेक 'नौहाख्वाँ मर्सिया गोई' आते हैं। मोहर्रम के दिनों में होने वाली भव्य एवं आकर्षक सजावट का एक कारण और बताया जाता है। कि ब्रिटिश सरकार शाही खाने का तमाम पैसा इधर-उधर खर्च कर रही थी इसे रोकने के लिए नवाबों ने एक ट्रस्ट बनाया जो कि हुसैनाबाद ट्रस्ट के नाम से मशहूर हुआ। यह एशिया का सबसे बड़ा ट्रस्ट है। इस ट्रस्ट के पैसे का इस्तेमाल मोहर्रम के दिन ताजियादारी अलम और मजलिसों के आयोजनों में खर्च होने लगा तब से मोहर्रम के अवसर पर रोशनी की जाती है।

बारादरी

लाल-बारादरी—इस निहायत खूबसूरत बारादरी का निर्माण सआदत अली ने करवाया था। इसका असली नाम 'करब्र-उल सुल्तान' अर्थात—'नवाबों का महल' है। अपने लाल रंग के कारण यह 'लाल बारादरी' के नाम से मशहूर हो गयी।

इसके हाल में सआदत अली खाँ का दरबार चलता था। 'दरोगा अब्बास अली बेग' के अनुसार—"लखनऊ का सबसे विशाल दरबार लाल बारादरी में ही आयोजित होता था। अवध की एक से एक जानी-मानी हस्तियाँ यहाँ तशरीफ लाती थीं। दरबार की रूपरेखा बिल्कुल पाश्चात्य ढंग की थी। परिणामस्वरूप एक नये युग का अवध के इतिहास में प्रवेश हुआ।"

सन् 1819 में गाज़ीउद्दीन हैदर की ताजपोशी बड़ी धूम-धाम से इसी बारादरी में हुई। रेजीडेन्ट सर जान बेली ने खुद गाज़ीउद्दीन हैदर के सिर पर तमाम बेश कीमती जवाहरातों व हीरों से जड़ित सोने का ताज रखा। गाजीउद्दीन हैदर के वक्त यह बारादरी सुरा की मदहोशी, सुन्दरियों के घुँघरूओं की छम-छम, तबले की थाप से सराबोर रही।

नसीरुद्दीन हैदर का भी दरबार इसी लाल बारादरी में बिल्कुल अंग्रेजी ढंग से चला। अवध के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि 7 जुलाई 1837 को लाल बारादरी में सल्तनत के चक्कर में भयंकर संघर्ष हुआ था। मिर्जा फरीदु बख्त जो कि 'मुन्ना जान' के नाम से मशहूर थे और बादशाह बेगम के पोते थे अपने वालिद नसीरुद्दीन हैदर का इन्तकाल होते ही रियासत हथियाने के चक्कर में लग गये। मुन्ना जान को रातों-रात तख्त पर बैठा दिया गया। उधर मोहम्मद अली शाह जो कि गाज़ीउद्दीन हैदर के भाई जान थे, वह भी चाहते थे कि ताजपोशी उनकी हो जब यह खबर मोहम्मद अलीशाह को मिली कि मुन्नाजान ने तख्त पर हाथ साफ कर दिया है तो उनके तन-बदन में आग लग गयी। ऐसे में उनके सामने एक ही रास्ता था, आकाओं के पैरों पर टोपी रखना। गद्दी के लिए यह भी कुबुल था।

रेजीडेन्ट साहब बादशाह बेगम के पास पहुँचे और कहा कि मुन्ना जान को

बादशाह ने अपना बेटा नहीं माना था। इसलिए किसी भी तरीके से उनका सल्तनत का वारिस बन पाना नामुमकिन है। इतना कहकर बादशाह बेगम को बड़े लाट साहब का फरमान दिखाया।

बादशाह बेगम का खून खौल उठा। फरमान को किनारे कर दिया। उनके चापलूसों ने भी खूब हवा दी। बेगम साहिबा ने ऐसा मानने से इनकार कर दिया। अब रेजीडेन्ट साहब मजबूर हो गये। चेतावनी दी अगर पाँच मिनट* के अन्दर मुन्ना जान ने तख्त न छोड़ा तो यह खूबसूरत बारादरी हमेशा के लिए मिटा दी जायेगी।

निर्धारित वक्त खत्म हुआ। तोपों ने आँखें खोल दीं। बारादरी में भगदड़ मच गयी। तमाम लोग अल्लाह को प्यारे हो गये। सरकार की तरफ से मृतकों की की संख्या 30 से 40 के बीच में आँकी गयी। 'एम० एम० मसीउद्दीन' के अनुसार सरकारी जानकारी गलत थी। यह संख्या तकरीबन 500 से कम नहीं रही होगी। खैर अंग्रेजी सैनिकों ने बारादरी में प्रवेश किया। मुन्ना जान के सिर से ताज उतार दिया गया। बादशाह बेगम और मुन्नाजान गिरफ्तार कर बेलीगारद पहुँचा दिये गये। एक-एक हीरा तख्त से निकाल लिया गया। यहाँ तक कि शाही तख्त पर चढ़ी चाँदी की चादर तक लुटेरों ने नहीं छोड़ी। दिल खोल के लूटा, बारादरी की खूबसूरती मटियामेट कर दी।

सन् 1838 में प्रकाशित 'अवध पेपर्स' के अन्तर्ग जिसको 'हाउस हाफ कार्मस' की तरफ से चालू किया गया था उसमें 7 जुलाई की वह काली मनहूस रात और 8 जुलाई की सुबह तक की एक-एक घटना का खुलकर ज़िक्र किया गया था। यह 10 जुलाई को प्रकाशित हुआ।

गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि रेजीडेंट खुद डाक्टर स्टीवेसन को साथ लेकर बादशाह की लाश देखने गये। लौटते वक्त कुछ जरूरी निर्देश देकर अपने आवास (बेलीगारद) लौट गये। उन्होंने कैप्टन पैटन को यह हुक्म दिया था कि नसीरुद्दीन के खजाने की सारी सम्पत्ति को सुरक्षा की दृष्टि से बन्द रखा जाय।

नवाब वाजिद अली शाह की ताजपोशी भी लाल बारादरी में ही हुई थी। 5 जुलाई सन् 1857 की वह शाम अपना भयानक रूप अख्तियार कर चुकी थी। तेज मूलाधार बारिश उसमें रह-रह कर कौंधती बिजली बार-बार लाल बारादरी में घट रही प्रत्येक घटना देखती और चुप हो जाती। इसी बारादरी में बादशाह

---

* 1. 'अवध की लूट' किताब के अनुसार एक जुलाई 1883 में प्रकाशित 'एशियाटिक जर्नल' में यह समय 'पाँच मिनट' माना गया है।

2. 'गूजिश्ता लखनऊ' के अनुसार यह वक्त 'दस मिनट' का था था।

3. कुछ अन्य किताबों के अनुसार यह वक्त 'पन्द्रह मिनट' का था।

वाजिद अली शाह के शाहबजादे का राज्याभिषेक नवाब वज़ीर सआदत अली खाँ की गद्दी पद बैठा कर किया गया।

हाय री विडम्बना। बेटे का राज्याभिषेक और हजरत महल के पास वहाँ मौजूद लोगों को इस मौके पर देने लायक कुछ नहीं। बेगम ने आँखों में अश्कभर कर वहाँ मौजूद लोगों को एक-एक 'दोशाला' और 'रूमाल' भेंट किया। आजादी के परवानों ने कसम खाई—'मौत गले लगायेंगे। गुलामी नहीं।' इस बारादरी में एक लम्बे अरसे तक संग्रहालय भी कायम रहा।

सन् 1883 में यह तय हुआ कि सीकचे वाली कोठी में मौजूद संग्रहालय को 'प्रान्तीय संग्रहालय' का स्वरूप दिया जाए। अब समस्या आयी जगह की जिसका समाधान लाल बारादरी थी। आज इस लाल बारादरी में 'ललित कला अकादमी' का कार्यालय कायम है।

कैसरबाग़ बारादरी—कैसरबाग़ बारादरी लखनऊ की मुगलकालीन खूबसूरत इमारतों में से एक है। राजपूती मेहरावें, जालीदार वेष्ठनी और अलंकृत स्तम्भ इसके आकर्षण का मुख्य केन्द्र हैं। बारादरी में सामने की तरफ गाँव तोरण तथा काफी बड़ा सहन है। सहन के नीचे तहखाना बना हुआ है। सन् 1857 के गदर के दौरान बेगम हजरत महल ने राजा जयलाल सिंह को यह जिम्मेदारी सौंपी थी कि वह खाद्यान का पूरा बन्दोबस्त करें जिससे खाने-पीने सम्बन्धी कोई समस्या पैदा न हो सके। राजा जयलाल सिंह ने इसी तहखाने में हजारों मन गल्ला इकट्ठा कर लिया था।

कैसरबाग़ से नवाब वाजिद अली शाह को वड़ा लगाव था आखिर इसके निर्माता जो ठहरे। उस वक्त इसके निर्माण पर 'एक लाख स्टर्लिंग' की लागत आयी थी। बारादरी के चारों ओर तमाम शाही बैठकें, फव्वारे और छोटी-छोटी नहरें बनी थीं। नहर का एक हिस्सा अभी भी बचा है जो कि बलरामपुर छात्रावास के ठीक सामने बटलर पार्क में एक किनारे पर मौजूद है।

संगमरमर की बनी खूबसूरत छतरियाँ भी देखी जा सकती हैं। वजीर अमीनुद्दौला के हटते ही नवाब साहब के बुरे दिन शुरू हो गये। अमीनुद्दौला बड़ा ही योग्य मंत्री था। अंग्रेजों को वह फूटी आँखों न सुहाता। एक दिन मौका पाकर अंग्रेजों ने वजीर अमीनुद्दौला की बीच सड़क पर जमकर पिटाई करवा दी और 50,000 रुपये लुटवा लिए। गैर तो गैर ही थे नवाब साहब के अपने भी अंग्रेजों से मिले थे। दरबारी साजिश के कारण अमीनुद्दौला वजीर पद से हटा दिये गये। सैय्यद अली नकी को वज़ीर बनवाया गया। नवाब साहब की बची-खुची शान्ति भी जाती रहीं। 'मेजर बर्ड' ने नकी के सम्बन्ध में लिखा है—'अवध के लिए यह दुर्भाग्य की बात रही कि इतना भ्रष्ट व्यक्ति वजीर बना, ऐसा अवध के इतिहास में कभी नहीं हुआ था।'

नवाब साहब को पूरी तरह से अपनी गिरफ्त में लेने के लिए नकी ने अपनी लौंडिया की शादी वाजिद अली शाह से कर दी। बेरहम फिरंगियों ने नवाब साहब के साथ बड़ा बुरा सलूक किया। वह बन्दी बनाकर कलकत्ते के 'मटिया बुर्ज' भेज दिये गये। गदर के दौरान अंग्रेजों ने कैसरबाग़ को दिल खोलकर लूटा। 'अलीरजा खाँ' शाही वक्त में शहर का कोतवाल था। नवाब साहब को इस शख्स पर बड़ा विश्वास था। मगर कब कौन दगा दे जाएगा यह किसी के चेहरे पर तो लिखा नहीं होता। अली रज्जा खाँ पक्का नमकहराम निकला। कैसरबाग़ में गड़े गुप्त खजाने का पता उसने 'डिप्टी कलक्टर' को दे दिया। 22 जून सन् 1857 को कैसरबाग़ में गड़ा यह खजाना लूट लिया गया। जिसमें करोड़ों रुपये के रत्न रंजित बेशकीमती सिंहासन, सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरातों से भरे 22 बड़े सन्दूक वेनिस और स्पेन के बने कीमती जेवरात तथा 23 हीरे जड़ित शाही मुकुट थे।

इस बारादरी में 'अन्जुमन-ए-हिन्द' का कार्यालय मौजूद है। बारादरी के मुख्य लम्बे-चौड़े हाल के आखिर में अयोध्या नरेश राजा मानसिंह व राजा बलरामपुर की संगमरमर की मूर्तियाँ हैं।

आजकल यह बारादरी लखनऊ के रईसों की शादियाँ कराने में अपनी अहम् भूमिका अदा कर रही है।

चांदीवाली बारादरी—चाइना बाजार गेट से थोड़ा आगे चलने पर दाहिनी ओर चाँदी वाली बारादरी है। नवाब सआदत अली खाँ द्वारा बनवायी गयी यह बारादरी एक खूबसूरत गुलदस्ते की तरह थी। इसकी छतों और स्तम्भों पर चाँदी मढ़ी हुई थी। इसलिए यह चाँदी वाली बारादरी के नाम से मशहूर हो गयी। गदर के बाद इन विदेशी एहसान फरामोश लुटेरों ने इसे बुरी तरह लूटा। एक-एक चाँदी का कण तक इसकी छतों व स्तम्भों से नोंच लिया।

इस लूट के बाद तो जैसे इस बारादरी की खूबसूरती को कोई रोग ही लग गया। यह फूल एक बार मुर्झाया तो दोबारा न खिल सका।

बादशाह मंजिल भी चाँदी वाली बारादरी के करीब ही थी। इसी इमारत में ब्रिटिश सरकार के खुसूसी मेहमान ठहराये जाते थे। इसके करीब ही चाइना बाग़ था। बाग़ में बने फव्वारे व बैठकें सभी चमकदार चीनी मिट्टी के बने थे। जब सूरज की रोशनी इन पर पड़ती तो बड़ा हसीन नजारा पैदा होता।

गदर के बाद बारादरी को एक छोटी कोठी के रूप में तबदील कर दिया गया जिसमें 'अवध गजट' का आफिस रहा। फिर कई सालों तक अमरीकन लाइब्रेरी मौजूद रही और अब इसमें कचहरी कायम हैं।

'बारादरी' नगीने वाली—नसीरूद्दीन हैदर द्वारा बनवाई गयी यह बारादरी भी चाँदी वाली बारादरी के पास ही बनी थी। इस बारादरी का निर्माण बादशाह ने अपनी बेगम 'खुर्शीद महल' के लिए करवाया था।

नसीरूद्दीन हैदर बड़े ही नेक और रहमदिल इंसान थे। उन्होंने तीन लाख रुपये कम्पनी सरकार के पास ऋण के तौर पर जमा कर दिये थे। बादशाह ने कम्पनी सरकार से कहा कि सालाना 12,000 रुपये की रकम जो चार प्रतिशत ब्याज की दर पर उनको मिलेगी वह उन्हें न देकर गरीबों, निःसहायों, विकलांगों में बाँट दी जाय। यह सहायता हमेशा जारी रहे। यही नहीं बादशाह ने लखनऊ में तालीम हासिल कर रहे छात्रों की खातिर 3,000 रुपये माहवार भत्ता दिये जाने का भी बन्दोबस्त कर दिया। नसीरुद्दीन गरीबों का मसीहा था उसने आदमी की बिक्री बन्द करवा दी, बीमारों के इलाज के वास्ते दवाइयों का मुफ्त इन्तजाम करवाया, अस्पताल खुलवाये।

अंग्रेजों ने ऐसे बादशाह को भी न बख्शा। नगीने वाली बारादरी में ही 'लखनऊ की लक्ष्मीबाई' बेगम हजरत महल ने बिरजीस कदर को जन्म दिया थी।

फिरंगियों ने इस बारादरी की सुन्दरता की ईंटें से ईंटें बजाकर रख दी। गदर के दौरान यह कमजोर हो गयी थी। बजाय इसे मजबूत करवाने के बरादरी में सलामत बचे मुख्य अंशों को निकालकर अंग्रेजों ने बनारसीबाग़ पहुँचा दिया और अपने ढंग की एक बारादरी बनारसीबाग़ में बनवाई। जिन्दगी भर आग लगाने वाले दूसरों को दर्द देकर हँसने वाले, खूबसूरती लूटने वाले फिरंगी आखिर क्या जाने खूबसूरती किसे कहते हैं।

लाख कोशिशों की मगर वह रौनक और सुन्दरता कायम न हो पायी जो पहले थी। आज भी स्थानान्तरित हुई यह बारादरी बनारसीबाग़ में मौजूद है।

तोरण

लक्खी दरवाजा—जीर्ण-शीर्ण अवस्था में बचे कैसरबाग़ के दो आलीशान दरवाजों की हर ईंटें अपनी पुरानी यादें दिलो-दिमाग में लाते हुए मानो तड़पकर कह रही हो अरे वाजिद ! तेरा जाना क्या हुआ कि वक्त के थपेड़ों और लोगों के जुल्मों सितम ने हमारी सूरतें ही बदल कर रख दीं।

बदरंग हुए इसी कैसरबाग़ में कभी चार आलीशान दरवाजे हुआ करते थे और इन चारों दरवाजों की गोद में बसे निहायत खूबसूरत कैसरबाग़ के सामने जन्नत की खूबसूरती भी पनाह माँगती थी। आज जो दो दरवाजे बचे हैं उनमें से एक 'नेहरू भवन' और दूसरा 'नारी शिक्षा निकेतन' के पास मौजूद है।

नवाब वाजिदअली शाह ने सन् 1850 ई० में इनका निर्माण करवाया था। उस जमाने में इनके बनवाने पर 'एक लाख' रुपये खर्च हुए सो नाम हो गया 'लक्खी दरवाजा' जब कि पूरे कैसरबाग़ के निर्माण में 4,30,000 पौण्ड खर्च हुए थे।

कैसरबाग़ की सारी इमारतों की पुताई गाढ़े रामरज से होती थी। दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता मानो कि इमारतों पर सोने का पानी चढ़ाया गया हो।

इन दरवाजों में बड़े-बड़े किवाड़ (पल्ले) लगे थे और तोरणों के ऊपरी हिस्से पर दाँए-बाँए जलपरियों की सुन्दर आकृतियाँ बनाई गयी थीं। वक्त की आँधी में जो दो दरवाजे उजड़ गये सो उजड़ गये बचे दो उनके हालात पर गौर फरमा लिया जाए—लखोड़ी ईंटों से बने इन दरवाजों के चारों कोनों पर चार बुर्ज मौजूद हैं इन चारों बुर्जों के बीच मुख्य बड़े गुम्बद के स्थान पर लखोड़ी ईंटों की चार पट्टियाँ गुम्बदाकार में ही बनी हैं। चारों कोनों पर हाथियों की मुखाकृतियाँ हैं और फिर पंक्तिबद्ध जलपरियों की आकृतियाँ। इसी प्रकार बीच के मुख्य द्वार के थोड़ा उधर मत्स्याकृतियाँ बनी हैं जिनके बीच कमल का पुष्प बना हुआ है। उसके थोड़ा नीचे ही दो जलपरियों की आकृतियां बनी हुई हैं जो अपने दोनों हाथों में पुष्प सदृश कोई वस्तु उठाये हुए हैं।

द्वार के अन्दर प्रवेश करने पर गोलाई से क्रमशः दाईं और बाईं ओर सूर्याकार में दो भव्याकृतियाँ बनी हैं। ऊपर की ओर दीवार पर भी गोलाई से बड़ी बरीकी के साथ छोटी-छोटी मछलियों की आकृतियाँ बनाई गयी हैं।

नारी शिक्षा निकेतन के पास स्थित लक्खी दरवाजे में लकड़ी का विशाल फाटक अब भी टूटी-फूटी अवस्था में मौजूद है जिसके ऊपर अर्ध चन्द्राकार में लकड़ी पर दाहिनी ओर मत्स्य कन्या की आकृति बनी है जब कि बायीं ओर की आकृति लुप्त हो चुकी है।

रूमी दरवाजा—मशहूर आसफी इमामबाड़े के पश्चिम की ओर एक विशाल आलीशान दरवाजा स्थित है जिसे 'रूमी दरवाजा' कहते हैं। इसका एक नाम और है 'तुर्की दरवाजा'। 'पुरुषोत्तम नागेश ओक' ने अपनी किताब—'लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू राजमहल हैं'—में इसे 'राम द्वार' के नाम से सम्बोधित किया है।

नवाब आसफुद्दौला अपने अब्बा हुजूर शुजाउद्दौला के इन्तकाल के बाद सन् 1775 में गद्दी पर बैठे। उनकी हुकूमत में लखनऊ ने बड़ी तरक्की की। नवाब साहब को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था सन् 1775 से सन् 1798 के बीच तमाम इमारतें बनवाईं जिनमें दौलतखाना, बीबीपुर कोठी, विशाल इमामबाड़ा, रूमी दरवाजा आदि मुख्य हैं।

रूमी दरवाजा और आसफी इमामबाड़ा यह दोनों एक साथ ही 1784 में बनने शुरू हुए और सन् 1789 ई० में बनकर तैयार हो गये।

उनके दिल में गरीबों के लिए बेपनाह मोहब्बत थी। वह अक्सर खरबूजे के अन्दर अशर्फी और लाल रखकर गरीबों में बंटवा दिया करते थे। फकीरों को नवाब साहब पर इतना विश्वास हो गया कि यदि शाम तक मौला ने रोजी-रोटी का बन्दोबस्त न किया तो आसफुद्दौला हैं ही—और यह कहावत मशहूर हो गयी—

'जिसको न दे मौला उसको दे आसफुद्दौला'। नवाब साहब की ड्योढ़ी पर एक बार एक बुढ़िया लोहे की तलवार लेकर हाजिर हुई। उसने तलवार नवाब के हाथों में रख दी। नवाब साहब ने उस तलवार को अपने हाथों में लिया और फिर उस बुढ़िया को वापस कर दिया। बुढ़िया के हाथ में जब तलवार दोबारा आयी तो वह उसे बार-बार उलट-पलट कर देखने लगी। नवाब साहब ने पूछा—आखिर तुम इसमें क्या देख रही हो। बुढ़िया ने हाथ जोड़कर कहा—"हुजूर मैंने तो सुना था कि आप जिस चीज को छू दें वह सोना हो जाती है मगर हमारी तकदीर ही खराब है जो यह तलवार जैसी थी वैसी ही रही।"

नवाब साहब ने तुरन्त उस तलवार के बराबर सोना बुढ़िया को देकर रुखसत कर दिया।

रूमी दरवाजे का नक्शा 'किफायतुल्ला साहब' ने बनाया था। इस दरवाजे में भी लोहे व लकड़ी का बिल्कुल इस्तेमाल नहीं किया गया है। इसके अगल-बगल दो पार्कों के बन जाने की वजह से इसकी खूबसूरती में और भी निखार आ गया है।

दरवाजे की ऊँचाई 60 फुट है। दीवारों पर सुन्दर कलाकारी की गयी है। जिसमें हिन्दू और मुगल दोनों की कलाओं का सामंजस्य है। तोरण के शीर्ष पर बनी छतरी तक पहुँचने के लिए सोपान हैं। दरवाजे के ऊपर अर्ध विकसित कमल की पंखुड़ियों के सदृश रचनाएँ बनाई गयी हैं।

रूमी दरवाजे के पीछे एक चहारदीवारी मौजूद थी जिसमें गदर के दौरान 'मच्छी भवन' के पास मारे गये अंग्रेजों की मज़ारें थीं।

अकबरी दरवाजा और गोल दरवाजा—यह दोनों ही दरवाजे एक सीधी और सकरी सड़क द्वारा एक-दूसरे से जुड़े थोड़ी ही दूरी पर मौजूद हैं। सन् 1590 ई० में अकबर ने जब सारे हिन्दुस्तान को 12 प्रान्तों में बाँटा तो अवध की राजधानी लखनऊ क़रार पाई। अकबर के ज़माने में लखनऊ ने बड़ी तरक्की की परिणाम-स्वरूप आबादी भी दिन-पर-दिन बढ़ती गयी।

'गुज़िश्ता-लखनऊ' के अनुसार—सम्राट् अकबर की बाजपेई ब्राह्मणों पर विशेष कृपा थी उन्होंने चौक के ब्राह्मणों को बाजपेई यज्ञ के लिए एक लाख रुपये दिए थे। उसी वक्त से लखनऊ के बाजपेई ब्राह्मण अधिक मशहूर हुए। अकबर के समय लखनऊ में स्थित मोहल्ले बाजपेई टोला, सोंधी टोला, बाजारी टोला, अहीरी टोखा आदि मुख्य थे जो कि चौक के इर्द-गिर्द ही आबाद थे।

अकबर ने जवाहर खाँ को अवध का सूबेदार नियुक्त किया, मगर उनके अधिकांश दिन तो दिल्ली में ही गुजरते थे। जवाहर खाँ के नायब काज़ी महमूद बिलग्रामी लखनऊ में ही रहते थे। मियाँ बिलग्रामी ने ही बादशाह अकबर के नाम से अकबरी दरवाजा बनवाया।

अकबरी दरवाजे से सीधे ही चौक की तरफ बढ़ते चले आयें तो पड़ेगा गोल दरवाजा। गोल दरवाजे के निर्माण की जीवन कहानी भी बड़ी ही गोल है। बादशाह मोहम्मद अली शाह की बेगम मलिका आफाक की सबसे बड़ी लड़की सुल्तान आलिया 'नवाब मोहसिनुद्दौला' को ब्याही थी। कहते हैं कि ऊपर वाला पूरी तरह से किसी को खुश नहीं रखता है, कोई-न-कोई गम पीछे जरूर लगा देता है। यही मलिका आफाक के साथ भी हुआ। दौलत तो बेशुमार थी मगर बेटी की परेशानियों का गम उन्हें खाये जा रहा था। दामाद मोहिसिनुद्दौला साहब बड़े ही रंगीन तबियत के इंसान थे। दिन-रात सुरा और सुन्दरियों पर दौलत पानी की तरह बहा रहे थे।

मलिका आफाक को थोड़ी-सी राहत मिली जब सुना कि वह नानी बन गयी

है। खुदा ने बेटी को एक सहारा तो दिया।

इन्हीं सुल्तान आलिया साहिबा ने ही यह गोल दरवाजा बनवाया था। अकबरी और गोल दरवाजों के बीच तमाम पुरानी इमारतें आज भी बनी हैं। इनमें तहसीन की मस्जिद व इमामबाड़ा, हैदर हुसैन का फाटक, हैदर बख्श की मस्जिद, शाही शफ़ाखाना, असग़र अली मोहम्मद अली की शानदार कोठी, ऐतिहासिक कप्तान का कुआँ मुख्य है।

गोटे और चिकन का जितना काम इस इलाके में होता है शायद ही कहीं और होता है। इसके साथ-ही-साथ गोटे और चिकन की तमाम दुकानें इन्हीं दोनों दरवाजे के बीच में ही हैं।

बाग़

मूसाबाग़—शहर से 4 किलोमीटर दूर लखनऊ हरदोई राजमार्ग पर स्थित 'मूसाबाग़' नवाब आसफुद्दौला द्वारा बनवाया गया था। इस बाग़ को 'सफरी बाग़' भी कहते हैं। मूसाबाग़ भी अन्य बाग़ों की तरह चहारदीवारों से घिरा हुआ था। इसके दक्षिण की ओर मुख्य प्रवेश द्वार था। बाग़ के बीच बनी बारादरी और तहखाने के भग्नावशेष आज भी मौजूद हैं। तहखाने तक पहुँचने के लिए दो रास्ते हैं। यह तहखाना गर्मी के दिनों में बड़ा आरामदेह था।

कहते हैं कि एक दिन नवाब आसफुद्दौला अपने प्रिय घोड़े सिकन्दर पर बैठकर सैर करने निकले। इत्तफाक की बात कम्बख्त एक चूहा घोड़े की टाप के नीचे आ दबा। नवाब साहब को चूहे की मौत पर बड़ा अफसोस हुआ। तभी वजीर ने कह दिया—हुजूर अगर इसे दफन करवाकर—मजार बनवा दें तो इसकी रूह को बड़ा सुकून मिलेगा। नवाब साहब को वजीर की बात पसन्द आयी। चूहे को दफन करने के बाद मजार बनवाकर एक खूबसूरत बाग़ लगवा दिया गया जो कि 'मूसाबाग़' के नाम मशहूर हुआ।

नवाब साहब की माँ 'बहू बेगम' से नहीं बनती थी, बहू बेगम 'नवाब शुजाउदौला' की बीबी थी। आसफुद्दौला ने फैजाबाद को छोड़कर जब लखनऊ को राजधानी बनाया तो बहू बेगम उनके साथ नहीं आयीं। आसफुद्दौला के दिल ने यह गँवारा न किया कि विधवा माँ को इस तरह बेसहारा छोड़ दिया जाए। नवाब साहब जब माँ को मनाने में कामयाब हो गए तो फैजाबाद से रास्ते भर अशर्फियाँ लुटाते हुए उन्हें लखनऊ लाए। जब बेगम लखनऊ में रहती तो नवाब साहब रोज 400 रुपये की लागत का खाना भेजते थे बेगम सुबह का नाश्ता और शाम का खाना नौकरों में बंटवा देती थी। बेगम साहिबा केवल दोपहर में एक ही बार भोजन करती थीं। बावर्चीखाने का 84 हजार रुपये बकाया हो गया जब बेगम फैजाबाद लौटने लगीं तो खुद ही सारा बकाया चुकता कर गयीं।

बेगम के दिल में भी आसफुद्दौला के लिए बेपनाह मोहब्बत थी। दो साल तक उनकी फौज का खर्च उन्होंने अपने ऊपर लिए रखा। 1857 में हुए गदर ने

मूसाबाग़ की खूबसूरती को तहस-नहस कर दिया।

चर्बी वाले कारतूसों के मसले ने अंग्रेजी फौज के भारतीय सिपाहियों में एक आग सुलगा दी थी। 3 मई, 1857 को कुछ सिपाहियों ने अंग्रेजी फौज के अफसरों पर हमले कर दिये और एक गुप्त पत्र मडियाँव छावनी की 32 नम्बर पलटन के पास भेजा। पत्र अंग्रेजों के हाथ लगा। तमाम विद्रोही पकड़े गए। अंग्रेज सरकार चौकन्नी हो गयी। 4 मई, 1857 को मूसाबाग़ चारों ओर से घेर लिया गया। विद्रोहियों पर तोपों से जमकर गोलाबारी की गयी। मूसाबाग़ की दशा जलियावाले बाग़ से कम न थी। अनेक विद्रोही सैनिकों ने मौत को गले लगा लिया।

विलायती बाग़--नसीरुद्दीन हैदर द्वारा बनवाया गया यह बाग़ अपनी खूबसूरती के लिए मशहूर रहा। चूँकि इस बाग़ में अधिकांश पौधे बाहर से मँगवाकर लगवाए गए थे लिहाजा इसका नाम ही विलायती बाग़ हो गया। एक ओर बहती दरिया दूसरी ओर हरा-भरा यह बाग़ और मन्द-मन्द चलती हवा गर्मियों के दिनों में जन्नत-सा सुख देती थी। नसीरुद्दीन हैदर का यह प्रिय स्थान रहा। वह हर शाम अपनी बेगमों से घिरे कन्हैया बनकर नाव द्वार यहाँ सैर करने आते थे। त्योहारों आदि के अवसर पर आकर्षक नौका दौड़ होती थी। बाग़ में बनी छतरियों और बारादरी का आज नामोंनिशान तक मिट चुका है।

आलमबाग़—ऊँची और सुदृढ़ चहारदीवारी से घिरा यह बाग़—बाग़ नहीं एक गढ़ था। सुल्ताने आलम नवाब वाजिद अली शाह ने यह बाग़ अपनी बेगम आलमआरा के लिए लगवाया था। बाग़ के बीच में एक दुमंजिली कोठी और उसके चारों कोनों पर चार ऊँची मीनारें बनी थीं। इसी कोठी में गर्मियों और बरसात के महीनों में नवाबी खानदान से ताल्लुक रखने वाले लोग रहने के लिए आते थे।

आलमबाग़ 1857 की जंगे आजादी का कुरुक्षेत्र रहा। 20 सितम्बर सन् 1857 को जनरल हैवलाक कानपुर से अपनी सेना लेकर लखनऊ के लिए निकल पड़ा। उसके साथ जनरल आउटरम भी था। 23 सितम्बर को आलमबाग़ में दिल दहलाने वाली जंग हुई। इस जंग में हैवलाक के 400 सिपाही बुरी तरह घायल हुई। 25 सितम्बर, 1857 को आउटरम और हैवलाक ने आलमबाग़ छोड़कर नहर गाज़ीउद्दीन हैदर पार की, नाका हिंडोला को पार कर वे केसरबाग़ की ओर निरन्तर बढ़ रहे थे। आजादी के दीवानों में भी जोश कुछ कम न था। आलमबाग़ और मुख्य शहर के बीच बने पुल को उड़ा दिया गया। अंग्रेजी सेना अब बुरी फंसी। आधी सेना इस पार रह गयी आधी उस पार। जितनी फौज पुल पार कर इस ओर आ चुकी थी वह कैसरबाग़ के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में प्रवेश कर गयी। अंग्रेजों की आलमबाग़ में बच रही सेना को अपनी दशा पर रोना आ रहा था।

विद्रोहियों से उनकी झड़पें हुआ करती थीं। 7 अक्टूबर, 1857 को अहमद उल्लाह शाह ने आलमबाग़ पर जोरदार आक्रमण किया। मगर दुर्भाग्य तो भारतीय क्रान्तिकारियों के पीछे हाथ धोकर पड़ा था। 21 अक्टूबर, 1857 को 'ब्रिगेडियर होप ग्रांट' कानपुर से तमाम गोरे, गोरखा व सिक्ख सिपाहियों की पलटन के साथ बंथरा होता हुआ आलमबाग़ में जूझती अपनी सेवा के सिपाहियों से आ मिला। अब अंग्रेजी सेना में सिपाहियों की तादाद 36 हजार तक पहुँच चुकी थी।

9 नवम्बर, 1857 को कैम्पबेल भी फौज लेकर आ धमका था। दिसम्बर, 1857 को अहमदउल्लाह ने एक बार और हिम्मत बाँध कर आलमबाग़ पर धावा बोला मगर पीछे हटना पड़ा। 15 फरवरी, 1858 को तोपों की भीषण मार के आगे क्रान्तिकारियों का बस न चला। तमाम आजादी के मतवाले भूखे-प्यासे लड़ते रहे। जब तक उनमें साँस चलती रही आने वाली पीढ़ियों को गुलामी की जंजीरों से बचाने के लिए वह जूझते रहे।

अन्त में अंग्रेजों ने आलमबाग़ का मोर्चा जीत ही लिया।

पसन्द बाग—लखनऊ को 'बागों का शहर' कहते हैं। अब वे बाग तो नहीं रहे, मगर उनकी यादें अभी भी लोगों के दिलों में मौजूद हैं। शहर के तमाम खूबसूरत बागों में मूसाबाग, अल्मास बाग, विलायती बाग, सिकन्दर बाग, पसन्द बाग बड़े ही मशहूर रहे थे।

पुराने लखनऊ में 'गढ़ी पीर' नाम का एक मोहल्ला है। इसी से थोड़ी ही दूरी पर इतिहास को अपने दामन में छुपाए आखिरी साँसें लेता हुआ ऐतिहासिक पसन्द बाग है। रुक-रुक कर चलती यह साँसें न जाने कब वक्त के थपेड़ों में समा गयी होतीं अगर मशहूर गजल गायिका 'बेगम अख्तर' ने इसे खरीद न लिया होता।

यह बाग बेगम अख्तर के दिल का एक टुकड़ा रहा। पसन्द बाग का निर्माण बादशाह नसीरुद्दीन के समय में हुआ था। दूसरे मुल्कों से भी इस बाग के लिए पौधे मंगवाए गए थे।

बाग की देखभाल राजा गालिब जंग किया करते थे। नवाबीन वक्त में इस बाग की शान ही कुछ और हुआ करती थी। हर साल यहाँ एक मेला लगता था जिसमें शरीक होने के लिए दूर-दूर से राजा-रईस और आम लोग आया करते थे। पसन्द बाग के मशहूर होने का एक कारण और था—वह यह कि यहाँ की जो मालिनें थीं उनकी खूबसूरती बेमिसाल होती थी। इस मेले का मुख्य आकर्षण उनकी अदा-शोखी और मेहमानवाजी भी हुआ करती थी।

मेले पर होने वाला सारा खर्च अवध के नवाब उठाते थे। दूर-दराज से जो लोग आते उनके रहने का अच्छे से अच्छा बन्दोबस्त किया जाता और उनकी खातिरदारी के लिए खूबसूरत मालिनें नियुक्त की जाती थीं।

इस बाग में 'सावन-भादों' नाम की एक बारादरी थी। जिसके चारों ओर खुशबूदार पानी अलग-अलग रंगों में बहता रहता था।

आज पसन्द बाग के अवशेष भी धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। पसन्द बाग में बनी बावली के चारों ओर गैलरी मौजूद हैं जहाँ कभी लोग गर्मियों के दिनों में बैठकर हवा के ठण्डे झोकों का लुफ्त उठाया करते थे।

इस बाग को बेगम अख्तर ने शायद इस ख्याल से खरीद लिया था कि वह एक बार और इसे नयी जिन्दगी दे सकें। इसके लिए इन्होंने तमाम पैसा भी खर्च किया, लेकिन पुराना रूप न लौट सका। जब बेगम अख्तर की माँ का देहान्त हुआ तो उन्होंने इसी पसन्द बाग की गोद ही उन्हें सुला दिया और एक छोटी सी मस्जिद बनवा दी। बेगम अख्तर की भी यह दिली ख्वाहिश थी कि मरने के बाद उन्हें भी पसन्द बाग में ही दफन किया जाए। उनकी यह आखिरी तमन्ना भी पूरी हुई, वह भी इसी बाग में चिरनिद्रा में सोई हैं।

बनारसी बाग—यह बाग 'विंग फील्ड पार्क' के नाम से भी मशहूर था। बनारसी बाग नसीरुद्दीन हैदर ने अपनी खास बेगम के लिए बनवाया था। इसके मध्य में दो मंजिला निहायत खूबसूरत भवन स्थित था, जिसे 'ऐश महल' कहते थे। बनारसी बाग में जो बारादरी आज विद्यमान है वह पहले कैसरबाग के करीब थी। यह 'नगीने वाली बारादरी' के नाम से मशहूर थी।

सन् 1922 में जब प्रिंस आफ वेल्स भारत भ्रमण के दौरान लखनऊ तशरीफ लाए तो बनारसी बाग को 'प्रिंस आफ वेल्स जुलाजिकल गार्डेन' कहा जाने लगा। ब्रिटिश हुकूमत के वक्त यहाँ पुष्प व शाक प्रदर्शनियाँ तथा मीटिंग आयोजित की जाती थी। आज इसी बाग में 'चिड़ियाघर' स्थित है। तरह-तरह के पशु-पक्षियों के अतिरिक्त म्यूजियम भी दर्शनीय है। बनारसी बाग में बाल-रेल के लिए 1.5 कि० मी० लम्बी गोलाकार रेल लाइन बनाई गयी है। स्वतन्त्रता उपरान्त सरकार ने बनारसी बाग में मौजूद चिड़ियाघर पर विशेष ध्यानाकर्षण किया है। सन् 1972 से यह तय हुआ कि इसके देखरेख की जिम्मेदारी 'वन विभाग' को सौंपी जाय और निदेशकों की नियुक्ति हो।

इस प्रकार पहले निदेशक श्री एम० एस रपूड़ी हुए। उनके बाद श्री एच० सी० रायजादा, श्री आर०एन० चौधरी, श्री अशोक सिंह, श्री आर० एल० सिंह, श्री वी० वी० गौड़, श्री सी० वी० वर्मा यहाँ के निदेशक पद पर कार्यरत रहे। वर्तमान निदेशक श्री आर० के० शुक्ला हैं।

सन् 1987-88 में सरकार द्वारा 25 लाख रुपये की आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई है।

सिकन्दरबाग—यह बाग नवाब वाजिद अली शाह ने अपनी बेगम सिकन्दर महल के लिए बनवाया था। बाग चारों ओर से ऊँची चहारदीवारी द्वारा घिरा

हुआ था। इसका मुख्य प्रवेश द्वार अपनी खूबसूरती के लिए बड़ा ही मशहूर था। कोई भी कसर इसे सजाने सँवारने में नहीं छोड़ी गयी थी। द्वार के दोनों ओर बने गुम्बद और मत्स्याकृतियाँ इसकी सुन्दरता को और भी बढ़ाती हैं। इसी बाग में आजादी के दीवानों ने मौत के साथ नाच किया था।

सिकन्दर बाग पर क्रान्तिकारियों ने कब्जा जमा रखा था। 16 नवम्बर, 1857 को यहाँ भीषण जंग हुई। 'सैय्यद बरकत अहमद' यहाँ इकट्ठी सेना के कप्तान थे। कालिन कैम्पबिल ने चार बजे शाम के वक्त धावा बोल दिया। जम कर गोलाबारी हुई। विधाता विपरीत था। भारतीय फौजों के पास मौजूद गोला बारूद खत्म हो गया। कैम्पबेल के लिए यही स्वर्णिम अवसर था। सिकन्दर बाग की दीवार तोड़कर वह अन्दर प्रविष्ट हो गया।

एक-एक इंच जगह के लिए विद्रोहियों ने अपनी जानें न्योछावर कर दीं मगर गंगाजली और कुराने पाक उठाकर जो कसमें खायी थीं उनसे न हटे। इसी बाग में घने पीपल के पेड़ पर एक अज्ञात वीरांगना पत्तों के झुरमुट में छिपकर बैठी थी जिसने तमाम अंग्रेज सैनिकों को जहन्नुम पहुँचा दिया। कब तक जूझती इन हैवानों से, गोली लगी और शहीद हो गयी।

अंग्रेज सरकार द्वारा सन् 1903 में सिकन्दर बाग में एक वनस्पति उद्यान स्थापित किया गया था। सन् 1953 को इसे देश का पहला 'राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान' बनने का गौरव हासिल हुआ।

बादशाह बाग बादशाह गाजीउद्दीन हैदर ने गोमती नदी के इसी किनारे पर ही एक विशाल क्षेत्रफल में शाही बाग लगवाना चाहा। मगर ऊपर वाले को यह मंजूर न था उनका इसी बीच इन्तकाल हो गया। गाजीउद्दीन हैदर के साहब-जादे नसीरुद्दीन ने अपने मरहूम वालिद की यह दिली-ख्वाहिश पूरी की। राजा 'बख्तावर सिंह' को यह शाही बाग लगवाने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। उन्होंने इस जिम्मेदारी को बखूबी निभाया। बाग का नाम 'बादशाह बाग' रखा गया।

हिफाजत के लिए बाग को चारों ओर से एक ऊँची चहारदीवारी द्वारा घेर दिया गया था। प्रवेश के लिए केवल दो ही प्रवेश द्वार थे। बादशाह बाग का एक प्रवेश द्वार उत्तर की ओर और दूसरा पूर्व की ओर था।

बाग के बीच में एक ऊँचे चबूतरे पर लाल पत्थरों की एक खूबसूरत बारादरी बनी। इसके ठीक सामने ही एक लम्बी नहर भी बनी है। इसके इत्र मिले खुशबू-दार पानी में बेगमें स्नान करती थीं। नहर के दोनों तरफ हरे-भरे पेड़ों का एक लम्बा-चौड़ा सिलसिला शुरू हो जाता था।

बादशाह नसीरुद्दीन की बीबी 'कुदसिया महल' अपनी दरियादिली के लिए बड़ी मशहूर थीं। बेगम रोज अपने दारोगा कादिर खाँ के माध्यम से 500 रुपये गरीबों को बँटवा दिया करती थीं। 1,400 रुपये का खाना भूखे, मोहताजों को

उनके नाम से बँटवा दिया जाता था। एक दिन दुपट्टा रंगरेज ने अपनी बेटी की शादी के वास्ते बेगम साहिबा से केवल 400 रुपये माँगे। इस पर बेगम नाराज हो क्योंकि रुपये इतने कम माँगे थे कि उन्हें उसमें अपनी तौहीन नजर आई। दुपट्टा रंगरेजी वहाँ से घबराकर खिसक गया। बाद में बेगम ने उस गरीब के घर पर कई हजार रुपये भिजवा दिए। एक बार एक नौशा अपनी बीबी को ससुराल से बिदा कराके महल के करीब से गुजर रहा था। बाजे-गाजे सब थे, रोशन चौकी बज रही थी मगर गरीब को दहेज में कुछ न मिला था। कनीजों ने यह हाल बेगम से बताया फौरन दूल्हा और दुल्हन महल में बुलाए गए। दुल्हन जेवरों से और नौशे को सामान से लाद दिया गया। गरीब अब मालामाल थी। बेगम को किसी की रत्ती भर बात बर्दाश्त नहीं थी एक दिन कोई बात उनके दिल में चुभ गयी उन्होंने बादशाह बाग की कोठी में खुदकुशी कर ली।

वक्त कब कौन सा दिन दिखाए कोई नहीं जानता। बादशाह बाग के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। यह बाग कपूरथला के महाराजा ने खरीद तो लिया मगर वह पुराना हसीन नजारा वापस न ला सके। जब उनका इन्तकाल हुआ तो इसी की गोद में हमेशा के लिए सो रहे। सन् 1905 ई० में इस बाग की 90 एकड़ जमीन कैनिंग कालेज को हासिल हो गयी। जिस पर लखनऊ विश्वविद्यालय की भव्य इमारतें खड़ी हैं। नहर और उसके ऊपर बना खूबसूरत पुल एवं लाल बारादरी आज भी देखी जा सकती है। इसी नहर में कभी खूशबूदार पानी भरा रहता था जो कि आज सूखी पड़ी है। बरसात के दिनों में ऊपर वाला थोड़ा बहुत पानी जरूर भर देता है।

नहर के सामने बनी बारादरी के एक बड़े हिस्से में आज यूको बैंक कायम है और इसी इमारत में बाँई तरफ कैन्टीन एवं इसके बगल में ही 'स्टाफ रूम' है। बादशाह बाग के शेष हिस्से में 'जैवकीय उत्पादन शाखा' 'पशुपालन विभाग' एवं 'पशु चिकित्सालय' मौजूद है।

दिलकुशा—लखनऊ के छावनी इलाके में स्थित दिलकुशा उद्यान नवाब सआदत अली खाँ द्वारा लगवाया गया था। दिलकुशा उद्यान का दिल थी उसके बीच बनी शानदार कोठी। यह कोठी शिकार खेलने के लिए एक मचान की तरह इस्तेमाल होती थी।

नसीरुद्दीन ने भी इस बाग को सजाने-संवारने में कोई कसर न छोड़ी थी। बेगम कुदसिया महल गर्भावस्था के दौरान कुछ दिनों तक यहाँ रुकी थी। सन् 1857 की आग से दिलकुशा भी बच न सका। 14 नवम्बर, 1857 को कैम्पबेल ने दिलकुशा पर अधिकार कर लिया। इसी कोठी में 24 नवम्बर, 1857 को हेनरी हैवलाक खुदागंज चलते बने।

हेनरी हैवलाक का जन्म 5 अप्रैल, 1795 को इंग्लैण्ड में हुआ था। 1815

ई० में वह सेना में भर्ती हुआ और सन् 1823 ई० में भारत आया। हैवलाक 1843 में हुए बर्मा और अफगानिस्तान के मोर्चों पर बहादुरी से लड़ा था। हैवलाक की बहादुरी को देखते हुए उसे लखनऊ स्थिति 'ब्रेव छावनी' की कमाण्ड सौंप दी गयी।

आज दिलकुशा बाग के एक विशाल क्षेत्रफल पर छावनी और तमाम नयी बस्तियाँ आबाद हो चुकी हैं। गोल बारादरी, शिकारगाह के खण्डहर, एक तरफ बना पुराना कुँआ, 1853 की बनी टूटी-फूटी दो मजारें आज भी अपने अतीत की दास्तानें कहती हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि छावनी क्षेत्र में आ जाने से 28 एकड़ की जमीन में फैले इस बाग की खूबसूरती अभी भी थोड़ी-बहुत बरकरार रखी है सेना के अधिकारियों ने।

मकबरा

नादान महल—नखास से अमीनाबाद की तरफ आने वाली सड़क के दाहिनी तरफ बना यह मकबरा 'नादान-महल' के नाम से मशहूर है। इस मकबरे की बुनियाद उस वक्त रखी गयी थी कि जब लखनऊ की आबादी बहुत अधिक न थी।

मकबरा नादान महल अवध के तत्कालीन सूबेदार शेख अब्दुर्रहीम ने बनवाया था। शेख साहब बिजनौर के रहने वाले थे। बादशाह अकबर के शासन काल में दिल्ली पहुँच कि बस यहीं से मियाँ शेख की तकदीर ने जलवा दिखाया। रोटी-रोटी का मोहताज यह शख्स अब सैकड़ों रुपयों का मालिक हो गया। शेख साहब को बादशाह अकबर ने बहराइच का इलाका जागीर में तो दिया ही साथ ही साथ सन् 1590 में अवध का सूबेदार भी मुकर्रर कर दिया।

इस मकबरे को बनाने वाले का नाम 'अफजल' था। 'तारीखे लखनऊ' में मौलवी आगा मेंहदी साहब ने बकायदा एक 'शेर' से इसके निर्माता के नाम का उल्लेख किया है। अब्दुर्रहीम के मकबरे के बाद ही जो दूसरा मकबरा है वह शेख इब्राहिम चिश्ती का है। इसके अलावा भी यहाँ कई कब्रें बनी हुई हैं।

उस वक्त लखनऊ में पत्थर की बनी अपने ढंग की यह पहली इमारत थी जो कि पत्थर के बने खम्बों पर टिकी है। स्थानीय लोगों का कहना है कि मकबरे के सामने वाले क्षेत्र में खुदाई के दौरान चाँदी के सिक्के भी निकले थे।

मकबरा अलीशाह कुली खाँ—कर्बला दयानतउद्दौला के करीब 'अली शाह कुली खाँ, का मकबरा है इस मकबरे में हिन्दू वास्तुकला के भी दर्शन होते हैं। शाह कुली खाँ की दिल्ली के शाही दरबार में अच्छी पैठ थी। 'गुजिश्ता लखनऊ' के अनुसार सूबेदार अली शाह कुली खाँ शाहजहाँ के वक्त में ही लखनऊ आकर जम गये थे।

शाह कुली खाँ के दो बेटे थे मिर्जा फाजिल और मिर्जा मंसूर। मिर्जा फाजिल ने 'फाजिल नगर' और मिर्जा मंसूर ने 'मंसूर नगर' मुहल्ले आबाद किए। मकबरे के सामने ही कभी एक खूबसूरत इमारत हुआ करती थीं जिसे 'बुनियाद मंजिल कहते थे। इसकी बुनियाद सैय्यद मुहम्मद अमीं उर्फ सआदत खाँ 'बुरहानुलमुल्क' ने रखी थी।

मकबरा इतनी ऊँची कुर्सी पर है कि कर्बला दयानुद्दौला के प्रवेश द्वार पर खड़े होकर उसके गुम्बद को देखा जा सकता है। इस मकबरे की भी हालात लखनऊ की तमाम पुरानी इमारतों की तरह ही दिन-प्रतिदिन जर्जर होती जा रही है।

इस साधारण स्थापत्य वाले मकबरे में वैसे तो कोई खास बात नहीं है सिवाय इसके कि यह इमारत लखनऊ की प्राचीनतम ऐतिहासिक इमारतों में से एक है।

मकबरा हकीम मेंहदी—जगत नारायण रोड पर दाहिनी तरफ हकीम मेंहदी का मकबरा है। हकीम मेंहदी बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के वजीर थे। जब मेंहदी साहब को वजारत सौंपी गयी तो उन्हें 'वजीरे आलम मुन्तजिमउद्दौला हकीम मेंहदी अली खाँ का खिताब भी हासिल हुआ।

मेंहदी साहब बड़े स्वाभिमानी इन्सान थे। जब उनकी जगह रोशनुद्दौला को वजारत सौंपी गयी तो वह लखनऊ छोड़कर फर्रुखाबाद चले गए। मुहम्मद अली शाह ने जब हुकूमत सम्भाली तो उन्हें एक योग्य वजीर की जरूरत पड़ी और हकीम मेंहदी को दोबारा लखनऊ बुलवाया गया। वजारत सौंप कर शाही सम्मान सूचक 'खिलअत वस्त्र' भेंट किया गया।

हकीम मेंहदी ज्यादा दिनों तक वजीर न रह सके। 1253 हिजरी को उनका इन्तकाल हो गया। मेंहदी साहब के भतीजे अहमद अली खाँ जब वजीर बने तो उन्होंने अपने चचा जान की यादगार में यह मकबरा बनवाया। इसके तहखाने में तमाम कब्रें बनी हैं जो कि अहमद अली खाँ, मुनव्वरउद्दौला के खानदान की है।

यह मकबरा अपनी खूबसूरती के लिए कभी बड़ा ही मशहूर था। मुद्दतों से पुताई न होने के कारण दीवारें काली पड़ गयी है। तहखाने में रोशनी तक का इन्तजाम नहीं है। मकबरे में पाँच गुम्बद थे, जिसमें के चार गुम्बद चारों कोनों पर आज भी मौजूद हैं। जबकि पाँचवाँ और मुख्य गुम्बद जो कि बीचोंबीच में था अब टूट चुका है। मकबरे में शिया समुदाय के लोग किराये पर रह रहे हैं।

मकबरा सआदत अली व खुर्शेदजादी—बेगम हजरत महल पार्क के सामने ही एक अन्य आकर्षक पार्क में स्थित दोनों मकबरों में से एक नवाब सआदत अली खाँ का और दूसरा उनकी प्रिय बेगम खुर्शेदजादी का है। इन मकबरों का निर्माण उनके साहबजादे गाजीउद्दीन हैदर ने करवाया था। जहाँ आज यह मकबरे मौजूद है वहाँ कभी एक मकान हुआ करता था जिसमें नवाब सआदत अली खाँ निवास करते थे। सआदत अली खाँ के गुज़रने के बाद उनके साहबज़ादे साहब राजमहल गये और कहा—"मैंने अपने अब्बूजान का मकान इसलिए लिया है कि मैं अपना मकान उन्हें रहने के लिए दे दूँ।"

जब नवाब साहब का इंतकाल हुआ तो गाजीउद्दीन हैदर ने अपने मरहूम वालिद को अपने ही घर में दफन कराया और पुराने मकान तुड़वाकर जो मकबरे बनवाए वह यही है।

यह दोनों ही मकबरे इटालियन शैली में बने हैं। इन मकबरों के गुम्बद बेमिसाल हैं जो कि लखनऊ की तमाम इमारतों के गुम्वदों से भिन्न अपनी एक अलग ही पहचान बनाएँ हुए हैं। मकबरों में शतरंज के आकार में बड़े-बड़े संगमरमर के काले और सफेद चौकोर टुकड़ों से फर्श का निर्माण हुआ है। मकबरे के तहखाने में नवाब सआदत अली खाँ की कब्र है और करीब ही उनकी माँ और बेटी की कब्र भी मौजूद हैं। इसी बड़े मकबरे के दक्षिणी भाग में उनके खानदान की तीन कब्रें और भी बनी हैं।

खुर्शीदजादी का मकबरा भी खूबसूरती में किसी से कम नहीं है। इस मकबरे में बेगम व उनके पुत्र एक साथ दफन हैं। छोटे मकबरे का गुम्बद बड़े मकबरे के गुम्बद से भिन्न है। इस मकबरे का तहखाना बाहर की ओर खुलता है।

आजादी की लड़ाई के दौरान 17 मार्च, सन् 1958 को जनरल हैवलाक जब इस मकबरे के नजदीक से होकर रेजीडेंसी की ओर जा रहे थे तो इन पर चढ़ी जल्लाद तोपों का ग्रास होने वाले उसके 15 जाँबाज़ सिपाही मारे गये जो कि इन दोनों मकबरों के बीच में दफन हैं।

सआदत अली खाँ बड़े ही मितव्ययी माने जाते थे। नवाब साहब ने शुरू-शुरू में 'फरहत बख्श' की कोठी 50 हजार रुपये में 'जनरल मार्टिन' से खरीदी और उसी में रहने लगे थे। इसके बाद इस कोठी के इर्द-गिर्द तमाम इमारतें बनवाई जिनमें 'टेटी कोठी' मुख्य थी। यह कोठी उन्होंने रेजीडेंट साहब के लिए बनवाई थी। इस कोठी के भग्नावशेष आज भी रेजीडेंसी में मौजूद हैं। इसके बाद 'कस्र-उल-सुल्तान' नाम से एक मशहूर बारादरी बनवाई जो बाद में 'लाल बारादरी' के नाम से विख्यात हुई। आज इस इमारत में 'ललित कला अकादमी' का कार्यालय कायम है।

इसके अतिरिक्त नवाब साहब ने दिल आराम, दिलकुशा, हयात बख्श आदि मशहूर कोठियाँ बनवाईं। 'हयात बख्श' कोठी में जब तक नवाब साहब जिन्दा रहे रहने आ जाया करते थे उनके गुजरने के बाद किसी नवाब ने इसका इस्तेमाल नहीं किया। हाँ आजादी की जंग से पहले 'मेजर बैंक' इसमें रहे थे।

नवाब साहब के वक्त में तमाम बड़े बाजार कायम हुए जिनमें सआदत गंज, मकबूल गंज, रस्तोगी मौहल्ला, गोलागंज, मौलवीगंज, रकाबगंज आदि मुख्य थे। रकाबगंज 'लोहे' और 'अनाज' की सबसे बड़ी मंडी थी।

मकबरा अमजद अली शाह या सिबतैनाबाद का इमामबाड़ा—16 मई, 1842 में मोहम्मद अलीशाह के गुजर जाने के बाद उनके पुत्र अमजद अली शाह ने हुकूमत की बागडोर थामी। उस वक्त उनकी उम्र 43 साल 4 माह थी। मोहम्मद अली शाह की यह सबसे बड़ी तमन्ना थी कि उनके साहबजादे अमजद ऊंची से ऊंची तालीम हासिल करें। मगर अफसोस, यह हसरत उनके दिल में दबकर

ही रह गयी अमजद अलीशाह को इस पढ़ाई-लिखाई से बेइन्तिहा नफरत थी। वह साधु प्रकृति के इंसान थे। उनकी सबसे बड़ी खामी शीघ्र ही किसी की बातों में आ जाना था। उनकी इस कमजोरी का नाजायज फायदा उठाते हुए चाटुकारों व धार्मिक धन्धेबाजों ने शाही खजाना जमकर लूटा। अपराध काफी बढ़ गए थे। भ्रष्टाचार, चोर-बजारी, घूसखोरी आदि नये नये कुकृत्यों का ऐसे माहौल में बढ़ना ही था तो खूब बढ़ा। मगर इन सबका कोई प्रभाव अमजद साहब पर नहीं पड़ा। वह अपनी ही मस्ती में मदमस्त रहे।

हजरतगंज में उनकी कब्रगाह मौजूद है। यह मकबरा एक विशाल मैदान में ऊँचे चबूतरे पर बना है। दो विशाल तोरण जो इस मकबरे के ही अंग हैं इस प्रकार सीध में बने हैं कि यदि हलवासिया मार्केट के करीब निर्मित प्रथम तोरण के सामने खड़े हों तो मकबरा साफ नजर आएगा। यह मकबरा कभी चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे परकोटों से घिरा हुआ था। इस मकबरे को 'सिबतैनाबाद का इमामबाड़ा' भी कहा जाता है। आस-पास का इलाका 'मेडू खाँ की छावनी' के नाम से मशहूर था।

इस मकबरे पर 10 लाख रुपये की लागत आयी थी। सन् 1857 ई० की जंगे आजादी ने इसकी नींव हिलाकर रख दी। फिरंगियों ने कड़े मुकाबिले के बाद इस पर कब्जा कर लिया।

लोगों की नज़रों से दूर एक कोने में दिन प्रतिदिन जर्जर होता यह मकबरा अपनी बरबादी पर रो रहा है। इसका बायाँ हिस्सा लटका हुआ है। चबूतरे की सीढ़ियाँ टूट चुकी हैं। सामने की दीवार पर एक लम्बी दरार ऊपर की ओर चली गयी है। आज इसी मकबरे में जनगणना निदेशालय व 'फर्नीचर हाउस' मौजूद है।

बादशाह अमजद अली शाह बड़े ही भोले-भाले इंसान थे। उन्होंने लखनऊ से कानपुर तक सार्वजनिक सड़क बनवाई। जब सड़क बनवाना तय हुआ तो रेजीडेन्ट ने बादशाह से कहकर एक यूरोपीय अधिकारी को इसकी जिम्मेदारी सौंपवा दी। मगर गोरी चमड़ी वाले का दिल काला निकला एक लाख रुपये लेकर वह चोट्टा अधिकारी भाग गया। रेजीडेन्ट उससे भी बड़ा चोर निकला। यूरोपीय अधिकारी को पकड़ने की बजाय दोष बादशाह के सिर धर दिया। अमजद अलीशाह तो नाम-मात्र के 'बादशाह' थे— करते भी क्या एक लाख की चोट सह ली। इस सड़क पर 5 लाख रुपये खर्च हुए थे।

जब कम्पनी सरकार की अफगानिस्तान से लड़ाई शुरू हुई तो बादशाह ने दिल खोलकर सहायता की। 700 घुड़सवार और 20 लाख रुपये अंग्रेजों को भेंट किए। मगर अंग्रेज तो एहसान फरामोश थे।

हजरतगंज—बादशाह अमजद अली की मदमस्ती ने आज आधुनिकता की मस्ती में लहराता हजरतगंज मुहल्ला आबाद किया तो उनके वजीर अमीनउद्दौला

ने अमीनाबाद मोहल्ला बसाया।

'श्री यशपाल जी' हजरतगंज के बारे में कहते हैं—

"उन दिनों हजरतगंज में आजकल की तरह भीड़-भड़क्का नहीं होता था। दुकानों के सामने फुटपाथ पर दुकानें न थीं। आम हिन्दुस्तानी इधर नहीं आते थे। शाम के वक्त भी कम ही लोग दिखायी देते। गंज में जितनी दुकानें हैं तब इसकी चौथाई थीं। उस समय गंज का रूप कुछ दूसरा ही था। विलायती कम्पनियों के ह्वाल्ट थे, आर्मी एण्ड नेवी स्टोर, स्पेन्सर की बड़ी-बड़ी दुकानें, यूरोपियनों के मतलब की चीजें बेचने वाले, ग्राहकों की संख्या कम। हजरतगंज में अधिकांश स्त्री-पुरुष 'यूरोपियन पोशाकें' पहने दिखायी देते। लालबाग़ से हजरतगंज के क्षेत्र में जहाँ आज छः सात सिनेमा घर हैं तब एक-एक सिनेमाघर ही था। टिकट खिड़की पर भीड़ न हुआ करती थी।"

आज का 'गंज' वह 'गंज' न रहा जो पहले था। जनपथ जैसे आलीशान बाजार, बिजली की रोशनी में चमचमाती दुकानें, आकाश चूमती चर्च, ऊँची गगन चुम्बी इमारतें, चौड़ी सड़कें और उनके सीनों को रौदती कारों की कतारों से हजरतगंज का हुलिया ही बदल चुका है।

करबला

करबला ऐशबाग़ ऐशबाग़ स्थित प्रसिद्ध रामलीला मैदान से मिली हुई इस करबला का निर्माण बादशाह हजरत मोहम्मद अली शाह के दारोगा आशिफ अली ने करवाया था। बेगम मलका जहाँ ने दो लाख रुपयों में यह करबला आशिफ अली से खरीदा और छोटे हज़रत का रौज़ा बनवाया।

इस रौज़े के चारों तरफ चार आलीशान फाटक थे जिनकी मेहराबों पर मशालें से पटकेदार अलम और ऊपर कुराने-पाक की आयतें लिखी हुई थीं। मौलवी आगा मेंहदी के मुताबिक करबला की जो ज़मीन मलका जहाँ ने खरीदी थी उसका क्षेत्रफल 44-45 बीघे था। इसका नाम 'चक करबलाय हैदरी' रखा गया था।

करबला में दो रौज़े और एक मस्ज़िद हैं। सन् 1857 की गदर के दौरान अंग्रेजी फौजों से टक्कर लेने के लिए हिन्दुस्तानी फौजें इस करबला में भी आकर टिक गयी थीं। परिणाम स्वरूप जो जंग यहाँ हुई उसमें दरगाह की खूबसूरती तबाह हो गयी। करबला के कई फाटक गिर गये, बाकी रहे तो सिर्फ रौज़े।

दरगाह हजरत अब्बास—मुस्लिम समुदाय का यह बड़ा ही पवित्र स्थान है। इस दरगाह को मिर्जा फकीर बेग ने बनवाया था जो कि आज इसी के रौजे में सोये हुए हैं।

तेग बहादुर द्वारा लिखित किताब 'ताजियत-हुसैन' के मुताबिक इस दरगाह में जो अलम है वह खास हज़रत अब्बास का है। इस अलम को हिन्दुस्तान से ज़ियरात के लिए गया एक फकीर बड़ी हिफाज़त से लखनऊ ले आया था। कहते हैं कि हज़रत अब्बास की दरगाह पर रुके एक गरीब शखस सैय्यद ने अपने ख्वाब में देखा कि जहाँ वह लेटा है, वहीं ज़मीन में हज़रत अब्बास का खास अलम दबा हुआ है। जब उस जगह की खुदाई की गयी तो अलम निकला जोकि बाद में लखनऊ आ गया।

'तारीखे-लखनऊ' में जनाब मौलवी आगा मेंहदी साहब लिखते हैं कि नवाब आसफ़ुद्दौला ने इस दरगाह के धार्मिक महत्व को देखते हुए इसके पुख्ता गुम्बद

बनवाये। लोगों का यह मानना था कि यहाँ जो भी शख्स दिल से खुदा को याद कर के मन्नत माँगता है, जरूर पूरी होती है। नवाब सआदत अली खाँ ने दरगाह हजरत अब्बास में मन्नत माँगी अगर मुझे दौलते-सल्तनत हासिल हो जाये तो ऐ परवर दिगार गुम्बदों पर सोने की चादर चढ़वा दूँगा।' मुराद पूरी हो गयी गुम्बद का रँग-रूप बदला दरगाह फूलों की तरह खिल उठी, लाखों रुपये इस पर खर्च कर दिये गये।

बादशाह गाजीउद्दीन हैदर ने यहाँ अपने हुकूमत के दौर में नक्कार खाना बनवाया। सन् 1919 तक नौबत बजती रहीं इसके बाद जो बन्द हुई तो दोबारा बजने की नौबत न आई।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के वक्त में मलका जमानियाँ ने इसी दरगाह के बाईं तरफ एक बावर्चीखाना तामीर करवाया। मोहम्मद अली शाह के समय दरगाह के मुतवल्ली 'शरफुद्दौला' थे। नवाब वाजिद अली शाह ने जब हुकूमत संभाली तो 'नवाब प्यारे' इसके मुतवल्ली हुए। इस दरगाह से लाखों रुपयों की आमदनी होती थी। यह पाक स्थल भी कमबख्त फिरंगियों की नापाक नजरों से न बच सका। दरगाह को बुरी तरह से लूटा गया। सोने के बने काफी भारी खास अलम को लूटा और साथ ही साथ चढ़ावे का तमाम रुपया व जेवरात भी।

काजमैन—लखनऊ का मंसूरनगर तमाम पुरानी इमारतों से भरा-पूरा एक काफी बड़ा इलाका है। इस क्षेत्र में न जाने कितनी पुरानी इमारतें अपने दिलों में अतीत की यादें समेटे आज भी वक्त की बेरहमी से टक्कर ले रही हैं।

बादशाह गाजीउद्दीन हैदर अपने दरबारी जगन्नाथ को दिलो-जान से चाहते थे। जगन्नाथ साहब कौम के अग्रवाल थे और मिर्जा मण्डी के करीब नाल दरवाजे में रहा करते थे। एक तवायफ बेगाजान के चक्कर में जनाब ऐसा फंसे कि मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया। अब वह जगन्नाथ नहीं बल्कि 'गुलाम रजा खाँ' के नाम से मशहूर थे। गुलाम रजा खाँ को बाद में 'शरफुद्दौला' का खिताब हासिल हुआ।

शरफुद्दौला को खुदा ने दौलत तो खूब बख्शी थी मगर अफसोस यह कि बेचारे एक औलाद का मुँह देखने के लिए तरस गये। उन्होंने अपनी जिन्दगी के बचे-खुचे दिन खुदा की इबादत में गुजारे और काजमैन की मशहूर खूबसूरत कर-बला का निर्माण करवाया। सड़क के बायीं तरफ दो ऊँचे परकोटों से घिरी यह चौकोर इमारत अपनी खूबसूरती के लिए बड़ी मशहूर है। करबला काजमैन ईराक में बनी इमाम हुसैन के रौज़े की नकल है। इमारत में प्रवेश करते ही सामने की ओर दीवार पर एक बड़ा शाही आईना नज़र आता है। दरवाजे की चौखट के करीब ही शरफुद्दौला और उनकी बेगम शरफुन्निसा की कब्र है जिस पर फारसी भाषा में तारीख लिखी हुई हैं। इमारत का मुख्य आकर्षक इसके गुम्बद हैं जो कि लखनख में बनी उन तमाम इमारतों पर बने गुम्बदों से एकदम अलग। इन गुम्बदों

पर पीतल की मोटी चादर चढ़ी हुई है ।

इमारत के चारों कोनों पर आकर्षक बेलबूटों से युक्त मीनारें हैं। करबला काज़्मैन की खूबसूरती मोहर्रम के दिनों में देखने लायक होती है जब इसे दुल्हन की तरह सजाया जाता है ।

कर्बला दयानतउद्दौला—काज़्मैन से थोड़ा आगे चलने पर सड़क के दाहिनी तरफ लाल परकोटे से घिरी दयानतउद्दौला की मशहूर कर्बला है। आगा मिर्ज़ा दयानतउद्दौला के जिगरी दोस्त थे। आगामिर्ज़ा के जोर देने पर उन्होंने 12 साल का वक्त हज और ज़ियारत में गुजार दिया। जब दयानतउद्दौला साहब वापस अपने मुल्क हिन्दुस्तान लौटे तो ईराक की करबला का नक्शा अपने साथ लेते आये और उसी के मुताबिक हू-ब-हू यह करबला बनवाई। दयानतउद्दौला का पूरा नाम 'दयानतउद्दौला-मोतमद्दीनउल मुल्क मोहम्मद मोतमद अली खाँ बहादुर अमानत-जंग' था।

इस इमारत की देखरेख की खातिर काफी रकम उन्होंने ट्रस्ट में जमा करवा दी थी। आगा मिर्ज़ा भी ज्यादा दिनों तक अपने इस जिगरी दोस्त से अलग न रह सके और वह भी लखनऊ आकर बस गये। बाग़ों के शहर की आबोहवा ज्यादा दिनों तक उनके नसीब में नहीं थी। अपने लड़के अली मिर्ज़ा को बेसहारा छोड़कर वह खुदा को प्यारे हो गये। अली मिर्ज़ा उस वक्त के अच्छे शायरों में गिने जाते थे। नवाब वाजिद अली शाह ने अपनी तख्ते हुकूमत के समय दयानतउद्दौला को भारी रकम और जमीन जायदाद दी थी। नवाब साहब इस शख्स पर कुछ अधिक ही मेहरबान थे। अपने एक शेर में नवाब साहब उनके बारे में कहते हैं—

"दयानत में इस तरह से था सिपर।
के जिस तरह परवाना हो शमा पर॥"

इस शख्स ने गुरबत में नवाब वाजिद अली शाह का साथ नहीं छोड़ा। जब नवाब साहब को जालिम कम्पनी सरकार ने कैदकर कलकत्ता भेज दिया तो वह भी कुछ दिनों बाद लखनऊ छोड़कर कलकत्ता चले गये।

क़दम रसूल—'क़दम-रसूल' अर्थात 'पैगम्बर के पैर।'
शाहनजफ और सिकन्दरबाग के बीच में मौजूद यह मुसलमानों का प्रमुख धार्मिक स्थान था। एक ऊँची चहारदीवारी से घिरी क़दम रसूल की इमारत के चारों ओर चार ऊँची-ऊँची मीनारें थीं। इमारत के बड़े हाल में एक पवित्र पत्थर रखा था। कहते हैं कि इस पर पैगम्बर मोहम्मद साहब के पैरों के निशान थे।

पवित्र पगचिन्हों से युक्त यह पत्थर मक्का से लखनऊ लाया गया था। अंग्रेजों ने अवध पर पूरी तरह से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद लखनऊ की तमाम इमारतों को अपने कब्जे में ले लिया था। खास कर वे इमारतें जो सुरक्षा की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण थी। कुछ इमारतों को बारूद और अस्त्र-शस्त्र का

भण्डार बना दिया तो कुछ में अपनी फौजों की टुकड़ियों भर दीं।

क़दम रसूल जैसा धार्मिक महत्व का स्थान भी पाक न रहने दिया। इसमें बारूद खाना कायम कर दिया गया। गदर के दौरान क्रान्तिकारियों ने बारूद खाने सहित इस इमारत को भी उड़ा दिया।

शाहनजफ और क़दम रसूल तक विद्रोहियों ने एक बारूदी सुरंग बिछा रखी थी। एक सैनिक को जब इस बारूदी सुरंग का पता चला तो वह घबराकर अंग्रेज फौजी अफसर के पास पहुँचा। आनन-फानन में सुरंग हटा दी गयी। सुरंग के हटते ही उसी जगह पर एक गोला गिरा था। विधाता और भाग्य दोनों ही अंग्रेजों के साथ थे अगर सुरंग हटाने में कुछ क्षणों की और देरी हो जाती तो अंग्रेजों को जान-माल का बहुत बड़ा नुकसान उठाना पड़ता।

आज क़दम रसूल का नामो-निशान तक नहीं है।

करबला नसीरुद्दीन—डालीगंज स्टेशन और शिया डिग्री कालेज के बीच में मौजुद इस करबला को नसीरुद्दीन हैदर ने बनवाया था। इसी करबला में नवाब की प्रेमिका कुदसिया महल भी दफन हैं। इसका निर्माण जारी ही था कि 7 जुलाई 1837 को नसीरुद्दीन इस दुनिया से रुखसत हो चले। करबला आधी ही बन सकी अवध के नवाबों का यह दस्तूर था कि इमारत को बनवाने वाला यदि बीच में मर जाये तो उसे अधूरी ही छोड़ दिया जाता था। वह इमारत मनहूस मानी जाती थी।

नसीरुद्दीन को जहर दिया गया था। जहर भी दिया उनकी सिरचढ़ी नौकरानी 'धनिया महरी' उर्फ 'अफजलउन्निसा खानम' ने। बादशाह इस महरी को बहुत मानते थे। सुबह तमाम कनीजों के साथ इत्र, अगरबत्ती, गुलदस्ते लेकर जब वह उनके सामने जाती तो तब जाकर कहीं इठलाते हुए जनाब उठते। बादशाह कभी-कभी धनिया महरी को चन्दन की छड़ी से छू दिया करते थे। एक दिन उसने कहा —'हुजूर के हाथ में यह दो टके की छड़ी अच्छी नहीं लगती अगर इसमें मोतियाँ जड़ दी जाएँ तो बात कुछ बने। नवाब साहब ने छड़ी में मोती और लाल जड़वाये। जब कभी धनिया महरी को प्यार से छड़ी छुआते तो वह झट नवाब साहब के हाथों से छड़ी ले लेती। नवाब साहब ने तमाम छड़ियाँ इसी तरह से धनियाँ महरी को दे दी।

लखौड़ी ईंटों से बनी करबला की यह इमारत चारों ओर से एक ऊँचे परकोटे द्वारा घिरी थी। करबला का मुख्य द्वार अगल-बगल के दरवाजों से बड़ा है। इसके दोनों गुम्बद और मीनारें अधूरी ही पड़ी हैं। इमारत के अन्दर नसीरुद्दीन की कब्र मौजूद है। कब्र पर लगे संगमरमर के पत्थर पर फारसी भाषा में तारीख लिखी है।

कब्र के ऊपर बनी संगमरमर की फर्श पर फूलों और बेलों की डिजाइनें बनी

हैं। इसके बीच में लगे हीरों को निकाल लिया गया था। आज उन्हीं हीरों की खाली जगहों पर धूल का जमाव है।

बायीं ओर मुख्य द्वार के करीब एक पुराना ताजिया रखा है। इमारत के नीचे विशाल तहखाना है। उपेक्षित पड़ी इस इमारत में जगह-जगह दरारें देखी जा सकती हैं।

इसी करबला के दामन में नवाब सआदत अली खाँ की बेगम टाट महल (मोती महल) के पुत्र जलालुउद्दीन भी चिरनिद्रा में सोये हैं। यह पहले महाराजा टिकैतराय के बाग में रहा करते थे। बाद में हिन्दुस्तान छोड़कर चले गये। उन्हें राजनीति से कोई दिलचस्पी नहीं थी। हिन्दुस्तान लौटकर आये तो इस्माइलगंज कोठी में रहने लगे। 1849 में उनका इन्तकाल हो गया।

करबला नवाब मलका आफाक—नदी के इस पार बनी ऐतिहासिक इमारतों में 'करबला इरादत नगर' और 'करबला नवाब मलका आफाक' मुख्य हैं। सीतापुर रोड से जुड़ा हुआ एक इमामबाड़ा आज भी अपनी खूबसूरती बरकरार रखे हुए तत्कालीन वास्तुकला की खूबियों को उजागर कर रहा है।

मलका आफाक मोहम्मद अली शाह की बेगम थीं। जब मोहम्मद अली शाह ने हुकूमत की बागडोर सँभाली तो अपनी इस बेगम को 'नवाब मलका आफाक मख्दर-ए-आजम मुमताज उल जमानी नवाब जहाँआरा बेगम' का खिताब दिया। मलिका आफाक बड़ी रहमदिल महिला थीं। 'बेगम-आफ-अवध' नामक किताब में मलका आफाक के सम्बन्ध में विस्तार से जिक्र किया गया है।

करबला का गुम्बद और मीनारों की कलसियाँ दूर से ही जगमगाती हैं। 20 अक्टूबर सन् 1850 को जब उनका इंतकाल हुआ तो वह अपने ही बनवाये इमामबाड़े में चिरनिद्रा में सो रहीं। इसी इमामबाड़े में उनकी बड़ी साहबजादी सुल्ताने आलिया, दामाद मोहसिनउद्दौला और नाती अली कदर भी दफन हैं।

पुल

ब्रूम-ब्रिज—मोती महल के करीब ही गोमती नदी पर इस पुल का निर्माण किया गया था। पुल नावों का था। इसका निर्माण कार्य सन् 1865 ई० में शुरू हुआ और यह सन् 1866 में ई० में बनकर तैयार हो गया। चूँकि पुल मि० ब्रूस की देखरेख में बना लिहाजा इसका नाम 'ब्रूस ब्रिज' हो गया। मि० ब्रूस साहब 'म्यूनिस्पिल इंजीनियर' थे।

सन् 1870 ई० में बाढ़ के दौरान उफनाती गोमती दरिया ने यह पुल उजाड़ दिया। इसका उत्तरी सिरा ढह गया था। बाढ़ का पानी उतरने पर इसे पुनः ठीक करवाया गया। आज इस पुल का नामों निशान तक मिट चुका है। इस पुल के करीब जो घाट मौजूद था उसे आज भी मोती-महल ही कहते हैं। इसी घाट के पास ही एक पुराने महल को मजबूत करवाकर 'जैकसन साहब' रहने लगे थे जो कि वकील थे।

1857 की गदर में अंग्रेजी फौजों ने मोती महल पर कब्जा तो कर लिया मगर क्रान्तिकारी इसी पुल से भाग निकले थे।

लोहे वाला पुल—सन् 1816 ई० में बादशाह गाजीउद्दीन हैदर ने इस पुल के लिए लोहे का ढाँचा इंग्लैण्ड से मंगवाया था। पुल का यह ढाँचा लखनऊ पहुंचने से पहले ही गाजीउद्दीन दूसरे लोक पहुँच चुके थे। नसीरुद्दीन हैदर ने पुल को बनवाने का काम शुरू करवा दिया और इसकी जिम्मेदारी इंजीनियर सिक्लेयर को सौंप दी। यह पुल पहले बेलीगारद के ठीक सामने बनवाया जा रहा था। मगर पुल बड़ा मनहूस साबित हुआ। काम फिर रुक गया। नसीरुद्दीन हैदर के बाद मोहम्मद अली शाह ने गद्दी संभाली पर इस पुल के लफड़े से अपने को अलग ही रखा। अपने अब्बा हुजूर के इन्तकाल के बाद अमजद अली शाह ने इस पुल को बनवाने की ठान ली और यह जिम्मेदारी एक हिन्दुस्तानी और 'कर्नल फ्रेज ने उठाई।

लौह पुल पर तीन लाख रुपये खर्च हुए थे। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान इस पुल की एक बार मरम्मत करवाई गयी थी। बाद में कमजोर हो जाने के कारण

इस पुल को तुड़वा दिया गया।

पक्का पुल—सूबेदार सफदरजंग अपने वजीर नवलराय को बहुत चाहते थे। नवलराय ने सफदरजंग के सामने गोमती नदी पर एक ऐसा पुल बनवाने का विचार रखा जो कि खूबसूरती और मजबूत में बेजोड़ हो। सफदरजंग को उनका यह विचार पसन्द आया। गोमती नदी निश्चय ही यातायात के लिए एक अवरोध थी।

पुल जब तक बनकर तैयार होता वज़ीर नवलकिशोर स्वर्ग सिधार गये। नवाब आसफुद्दौला ने सन् 1780 ई० में इस अधूरे पुल का निर्माण करवाया। 'हुस्नबाग़' और 'मच्छी भवन' के बीच बना यह पुल पैरिस की सोन दरिया पर बने हुए पुल की नकल था। गदर के दौरान यह काफी कमजोर हो गया। कभी भी कोई दुर्घटना हो सकती थी अतः सन् 1911 ई० में इसे तुड़वाकर इससे थोड़ी ही दूरी पर एक नये पुल की नींव रखी गयी। यह नया पुल चूँकि 'हार्डिग्स साहब' की देखरेख में बना सो इसे 'हार्डिग्स-ब्रिज' भी कहा जाने लगा। जून, 1914 ई० में पक्के पुल का उद्घाटन हुआ। इस पुल की गणना देश के खूबसूरत पुलों में की जाती है।

लखनऊ की अन्य ऐतिहासिक इमारतें

हुसैनाबाद घण्टाघर—लखनऊ की तमाम ऐतिहासिक खूबसूरत इमारतों में घण्टाघर एक है। इसका निर्माण सन् 1881 में हुआ। उस जमाने में इसके निर्माण पर एक लाख 20 हजार रुपये खर्च हुए।

घण्टाघर के निर्माण में लखौड़ी की बजाय लाल ईंटें इस्तेमाल की गयी हैं। इसके निर्माण की योजना 'लेफ्टीनेन्ट नारमन टी हार्सकोट' ने बनाई। वह हुसैनाबाद ट्रस्ट के तत्कालीन 'ट्रस्टी' थे। कलकत्ता के सर आर० बाइन ने इसका नक्शा तैयार किया। टावर की ऊँचाई 221 फुट एवं चौड़ाई 20 स्क्वायर फुट है।

घण्टाघर के चारों ओर सीढ़ियाँ हैं। ऊपर जाने के लिए एकमात्र प्रवेश द्वार हैं। दरवाजे के बायीं ओर संगमरमर के पत्थर पर देवनागरी लिपि में लिखा है—

"यह घण्टाघर सन् 1881 ई० से सन् 1887 ई० तक मुतबतियान हुसैनाबाद मुबारक के हुक्म से सर जार्ज कूपर साहिब बहादुर ब्यारनिट सी० बी० बी० सी० एस० आई० की यादगार के वास्ते, जो सूबे अवध और पश्चिम के जिलों के पहले लेफ्टीनेंट गवर्नर थे तैयार हुआ। साहिब बहादुर के वक्त में और उनकी तवज्जुह से हुसैनाबाद मुबारक का इन्तजाम दुरुस्त हुआ।"

प्रवेश द्वार के ऊपर संगमरमर के एक बड़े पत्थर में खूबसूरत जालियाँ बनायी गयी हैं। जाली के ऊपर धनुषाकार में पीले, काले, सफेद, नीले, हरे, बैंगनी एवं स्लैटी रंगों में मनमोहक फूलों की डिजाइनें हैं। ऊपर चारों तरफ चार छज्जे हैं जिन पर आने के लिए दरवाजे हैं। इन चारों दरवाजों के ऊपर भी ठीक उसी तरह बड़े संगमरमर के पत्थर में जालियाँ बनी हैं जैसे प्रवेश द्वार के ऊपर लगे पत्थर पर।

थोड़ा और ऊपर निगाह दौड़ाने पर चारों ओर ईंटों से बनी खूबसूरत जालियाँ नजर आती हैं। टावर का मुख्य आकर्षण चार घड़ियाँ हैं। इनके निर्माता जे०डब्लू० बेन्सन थे। घड़ियों का व्यास 13 फुट है। बड़ी सुई की लम्बाई 6 फीट और छोटी सुई की लम्बाई 4½ फीट है। घड़ियों के चारों ओर भी डिजाइनें बनी हैं।

रात के वक्त भी समय देखने में कोई दिक्कत न हो इसलिए बड़ी ही कुशलता

पूर्वक प्रकाश व्यवस्था की गयी थी। घड़ी के पीछे लालटनें इस प्रकार जलाकर लटका दी जाती थीं जिससे प्रकाश डायल के बाहरी हिस्से पर अच्छी तरह आ सके। रात के वक्त ऊँचाई पर चमकती चारों घड़ियाँ ऐसा आभास दिलातीं मानों बादलों की झीनी-झीनी चादर के पीछे से चार चाँद मुस्कुरा रहे हों।

घड़ियाँ हर घण्टे, आधे घण्टे, सवा व पौन घण्टे का समय बड़ी मधुर ध्वनि में बताती थीं ध्वनि पैदा करने के लिए अच्छी धातु का इस्तेमाल किया गया था जिससे आवाज दूर तक जा सके। टावर के शीर्ष पर एक गुम्बद है। ऊपर एक छत्र बना है। गुम्बद के शीर्ष पर एक पक्षी बना है जो उड़ती हुई अवस्था में है। यह हवा की दिशा बताने का कार्य करता है।

छतरी बेगम हजरत महल—लखनऊ के मशहूर और आलीशान होटल 'क्लार्क अवध' के सामने विशाल पार्क के मध्य बनी खूबसूरत छतरी सन् 1857 की जंगे आजादी की वीरांगना 'बेगम हजरत महल' की याद दिलाती है। 22 जनवरी सन् 1901 ई० को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया का इन्तकाल हो गया था। उन्हीं की यादगार में सितम्बर सन् 1904 ई० में इसका निर्माण शुरू हुआ। इस छतरी का नक्शा तत्कालीन प्रसिद्ध वास्तुशिल्पकार जैकब महोदय ने तैयार किया था।

इसके निर्माण में उस वक्त 1,30,220 रुपये खर्च हुए थे। जबकि छतरी के बीच में बनी मलका विक्टोरिया की मूर्ति के निर्माण में ही 41,502 रुपये खर्च हो गए थे। खैर वह दिन भी आ गया जब 2 अप्रैल सन् 1908 ई० की शाम को विक्टोरिया की मूर्ति का अनावरण हुआ। मूर्ति के सामने पड़ा पर्दा हटते ही सारा मैदान तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। 21 तोपों की सलामी दी गयी। 'आक्सफोर्ड' महोदय ने उस वक्त की राष्ट्रीय धुन छेड़ी।

सन् 1957 ई० को प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के 100 वर्ष पूर्ण हुए। एक भव्य समारोह हुआ। जिसमें सर्वसम्मति से तय किया गया कि अंग्रेजी शासकों व अफसरों की मूर्तियों को हटा दिया जाए। अब हम अपने को आजाद कहने लगे हैं मगर अफसोस यह कि मानसिक रूप से आज भी गुलाम हैं। पाश्चात्य सभ्यता की ओर खिंचना, विदेशी भाषा के प्रति लगाव, मातृ भाषा के प्रति उदासीनता यह गुलामी नहीं तो और क्या है।

आज यह विशाल पार्क एवं छतरी बेगम हजरत महल के नाम से मशहूर है। इस छतरी के निर्माण हेतु मिर्जापुर जिले से लाल पत्थर और मकराने से संगमरमर का पत्थर मंगवाया गया था। छतरी एक वर्गाकार ऊँचे चबूतरे पर बनी है। चारों ओर सोपान है। छतरी के चार कोनों पर छोटी-छोटी छतरियाँ बनी हैं। पार्क के मध्य स्थित यह छतरी आज भी लोगों के आकर्षण का एक केन्द्र है।

'बेगम हजरत महल पार्क' से ही मिला एक और खूबसूरत पार्क है जिसे 'ग्लोब

पार्क' कहते हैं। इसके बीच स्थित 21 फुट व्यास वाला यह विशाल ग्लोब 'स्वर्गीय बी० आर० मोहन' द्वारा बनाया गया था। ग्लोब का वजन 20 टन के करीब है।

कैनिग कालेज—बड़ा लम्बा सफर तय किया है कैनिग कालेज ने लखनऊ विश्वविद्यालय के रूप में तब्दील होने तक। हाथ में एक कापी, मुँह में सिगरेट एवं गुटों में मस्ती से घूमते तमाम युवा छात्रों को, तो कहीं चहकती आधुनिक परिधानों से सुशोभित लड़कियों की टोलियों को 'यत्र तत्र सर्वत्र' घूमते देखा जा सकता है।

1 मई सन् 1864 ई० को भारत के सर्वप्रथम वाइसराय 'लार्ड कैनिग' की स्मृति में एक 'कैनिग हाई स्कूल' की स्थापना हुई। सन् 1866 ई० में कैनिग हाई स्कूल को 'इण्टरमीडिएट कालेज' का दर्जा हासिल हो गया। इसके बाद तालीम हासिल करने वालों की बढ़ती हुई बेतहाशा संख्या के कारण इसमें तमाम फेरबदल किये गये।

13 नवम्बर सन् 1867 ई० को वायसराय 'सर जान एल० एम० लारेंस' द्वारा कैसरबाग स्थित परीखाना 'पैलेस' (वर्तमान भातखण्डे संगीत महाविद्यालय) को शिक्षा संस्थान में परिवर्तित कर दिया गया। इस परीखाना पैलेस में तकरीबन 28 सालों तक कैनिग कालेज कायम रहा। सन् 1867 ई० से 1889 ई० तक कैनिग कालेज कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकार में रहा बाद में इसे सन् 1889 ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया।

अब तक जहाँ केवल बी० ए० तक ही तालीम का बन्दोबस्त था वहीं सन् 1870 ई० से 'एम० ए०' एवं 'विधि' की शिक्षा भी शुरू कर दी गयी। सन् 1905 ई० में बादशाह बाग का काफी बड़ा क्षेत्र कैनिग कालेज को मिला। इसी बादशाह बाग के शेष क्षेत्र में आज 'मत्स्य विभाग', 'पशुपालन विभाग' एवं 'पशु चिकित्सालय' मौजूद है। 31 मार्च, सन् 1909 ई० को 'जान प्रेस्काट हैवेट' ने बादशाह बाग पर निर्मित होने वाली निहायत ही खूबसूरत इमारत का नक्शा तैयार किया। आखिरकार वह दिन भी आ ही गया जब 17 फरवरी, सन् 1911 ई० को कैनिग कालेज की विशाल इमारत का उद्घाटन हुआ। तीन साल बाद ही सन् 1915 ई० में एक छात्रावास का निर्माण हुआ जिसे 'मेस्टन छात्रावास' का नाम दिया गया।

लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना का ख्याल महमूदाबाद के राजा 'मोहम्मद अली खाँ' के दिमाग में आया। उनके इस सुझाव पर विचार-विमर्श करने के लिए लेफ्टीनेन्ट गवर्नर 'हारकोर्ट बटलर' ने 10 नवम्बर सन् 1919 ई० को लखनऊ के 'गवर्नर हाउस' में एक मीटिंग रखी जिसमें पूर्ण सहमति के उपरान्त कैनिग कालेज को लखनऊ विश्वविद्यालय बनाने की योजना बनी।

अन्ततोगत्वा तमाम खानापूर्ति होने के बाद 25 नवम्बर सन् 1920 ई० अवध के गवर्नर जनरल ने इसकी स्थापना की अनुमति प्रदान कर दी। किंग जार्ज

मेडिकल कालेज, ईसाबेला थार्बेन कालेज व कैनिग कालेज के संलग्न होने पर 1922 ई० को एक नवीन शिक्षा संस्थान ने जन्म लिया जो कि 'लखनऊ विश्व-विद्यालय के नाम से मशहूर हुआ।

कुछ सालों के बाद मेडिकल कालेज को लखनऊ विश्वविद्यालय से अलग कर दिया गया और अब विचार हो रहा है विश्वविद्यालय को आवासीय बनाने एवं इससे सम्बद्ध लखनऊ के सभी डिग्री कालेजों को अवध विश्वविद्यालय (फैजाबाद) से जोड़ने पर।

विश्वविद्यालय में समय-समय पर तमाम परिवर्तन होते रहे हैं। अनेक नई इमारतें बनी जिसमें रजिस्ट्रार आफिस, वाणिज्य संकाय, पी० जी० ब्लाक आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेक नये छात्रावासों का भी निर्माण हुआ जिनमें लाल बहादुर शास्त्री, गोल्डेन जुबली, आचार्य नरेन्द्र देव, बीरबल साहनी मुख्य हैं जबकि महमूदाबाद, हबीबुल्ला, तिलक, चन्द्रशेखर (बटलर), सुभाष पुराने छात्रावास हैं। कैसरबाग स्थित बलरामपुर छात्रावास को मिलाकर छात्रों के लिए आज कुल 10 छात्रावास है। जबकि छात्राओं के लिए पुलिस लाइन के सामने ही कैलाश छात्रा-वास स्थित है। जिसमें पाँच ब्लाक है।

ईसाबेला थार्बेन कालेज—18 अप्रैल सन् 1870 को अमीनाबाद स्थित कोठी बिरजीस कद्र में मिस ईसाबेला थार्बेन ने लड़कियों का एक छोटा सा स्कूल खोला। सन् 1886 ई० को यह एक कालेज में तब्दील हो गया। सन् 1895 ई० तक ईसाबेला थार्बेन कालेज कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहा और फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से। सन् 1921 ई० में यह कालेज लखनऊ विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया।

ईसाबेला की माँ 'थार्बेन' सन् 1825 में अमेरिका से आकर बस गयी। यहीं 29 मार्च सन् 1840 को ईसाबेला का जन्म हुआ। ईसाबेला अपने पाँच भाइयों व पाँच बहनों में नवी सन्तान थीं। जब वह 10 साल की ही थी उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और 13 साल की उम्र में उनकी माँ इस संसार को छोड़कर चली गयी।

कैलाश छात्रावास से थोड़ा आगे ही लखनऊ फैजाबाद रोड पर बाईं तरफ गोथिक शैली की यह खूबसूरत विशाल इमारत लोगों के आकर्षण का केन्द्र है।

कौंसिल हाउस—यह इमारत 'विधान सभा भवन' के नाम से मशहूर है। संयुक्त प्रान्त आगरा और अवध के तत्कालीन लेफ्टीनेन्ट गवर्नर "सर इसपैन्सर हारकोर्ट बटलर ने 22 जनवरी 1921 को इस धनुषाकार कौंसिल हाउस इमारत की नींव रखी।

यह कौंसिल हाउस तमाम स्थापत्य कलाओं का संगम है। भवन का विशाल गुम्बद यदि गोथिक शैली का है तो मेहराबें इटालियन शैली में मुस्कराती है, भीतरी

स्तम्भों में भारतीय स्थापत्य शैली की छटा परिलक्षित होती है तो यूनानी शैली भी अपनी झलक दिखाने से क्यों पीछे रहे।

चारबाग़ स्टेशन की खूबसूरत इमारत का नक्शा तैयार करने वाले जैकब महोदय ने हीरासिंह के साथ मिलकर इसका नक्शा तैयार किया। कौंसिल हाउस की यह भव्य इमारत 6 साल में बनकर तैयार हुई। 1928 में तैयार हुए इस भवन पर आया आधे से ज्यादा खर्च ताल्लुकेदारों व कुछ अमीर हस्तियों ने वहन किया। यहाँ विधान सभा तथा विधान परिषद की अलग-अलग संयुक्त बैठकें इसके केन्द्रीय हाल में होती हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार के तमाम विभागों के आफिस भी यहाँ हैं। विभिन्न विभागों से सम्बद्ध मन्त्री एवं मुख्यमन्त्री भी यहाँ बैठते हैं। सरकारी महत्व के कारण सुरक्षा का कड़ा प्रबन्ध है।

दारुल शफा—विधान सभा भवन के सामने आज जहाँ तीन मंजिली इमारत खड़ी है वहीं कभी सआदत अली खाँ द्वारा बनवाया गया एक अस्पताल था। नवाब नसीरुद्दीन हैदर की इस अस्पताल पर विशेष कृपा दृष्टि रही। 'डा० एरेन्टीबेन्सन' व 'स्कीम मिर्जा अली' मुख्य डाक्टर थे। डा० फ्रेयरर इस अस्पताल में होने वाले नाजायज कामों से बड़े नाखुश रहा करते थे।

उनका कहना था कि यहाँ बिन ब्याही औरतें अपनी पाप की औलादों से छुटकारा पाने आती हैं। 'द लखनऊ एलबम' से प्राप्त जानकारी के अनुसार अस्पताल के निर्माण का उद्देश्य यह था कि यहाँ बीमारी से पीड़ित गरीबों व निःसहायों का मुफ्त इलाज हो सके। मगर ऐसा हुआ नहीं, सिवाय इसके कि जब बेगमें गर्भवती होती तो प्रसव काल के दौरान इसका प्रयोग करती थीं।

इससे स्पष्ट होता है कि इस अस्पताल का प्रयोग केवल शाही खानदान से ताल्लुक रखने वाले लोग ही करते थे। सन् 1844 ई० में अमजद अली शाह ने अस्पताल की यह इमारत अपनी बेगम मलिका अहद को रहने के लिए दे दी थी।

यह इमारत कम्पनी सरकार के मुख्य आयुक्त के सचिव का निवास स्थान भी रही।

राज्य संग्रहालय—लखनऊ के राज्य संग्रहालय का इतिहास लगभग सवा सौ साल पुराना है। 'कर्नल एबट' जो कि सन् 1862 में लखनऊ के मंडलायुक्त थे; उनके दिमाग में यह ख्याल आया कि क्यों न प्रदेश की प्राचीन परम्पराओं व जन जीवन से ताल्लुक रखने वाली वस्तुओं को इकट्ठा किया जाए।

आखिरकार सन् 1863 ई० को छोटी छतर मंजिल में संग्रहालय की स्थापना हुई। सन् 1873 ई० में आगरे के 'रिडिल संग्रहालय' को इससे संलग्न कर दिया गया। सन् 1880 ई० में इलाहाबाद से कुछ पुरातात्विक महत्व की वस्तुएँ लाकर संग्रहालय में रखी गयीं।

आगरा के 'रिडिल संग्रहालय' से संलग्न होने और इलाहाबाद से कुछ महत्व-पूर्ण वस्तुओं के आ जाने के कारण लखनऊ का खाली लग रहा संग्रहालय अब काफी भरा पूरा नजर आने लगा था।

संग्रहालय लखनऊ की 'सीकचे वाली कोठी' में काफी समय तक मौजूद रहा। सन् 1883 ई० में यह तय किया गया कि इसे प्रान्तीय संग्रहालय बनाया जाए। अब समस्या आयी जगह की, 'सीकचे वाली कोठी' में ज्यादा जगह तो थी नहीं कि तमाम प्राचीन वस्तुओं को अधिक संख्या में लाकर यहाँ रखा जा सके। अत: इसे छतर मंजिल के सामने ही 'लाल बारादरी' में स्थानान्तरित कर दिया गया।

सन् 1907 ई० में भारत वर्ष के तमाम संग्रहालयों के अध्यक्षों की एक सभा कलकत्ते में बुलायी गई। जिसमें यह तय हुआ कि लखनऊ के संग्रहालय में कई अनुभाग बढ़ाये जायें। जब सन् 1811 ई० में कैसरबाग स्थित कैनिंग कालेज वहाँ से हट गया तो उस भवन के लगभग दो तिहाई हिस्से में संग्रहालय का पुरातत्व अनुभाग स्थापित कर दिया गया। सन् 1885 ई० में प्रथम संग्रहालयाध्यक्ष के रूप में 'डा० ए० ए० फ्यूरर' ने कार्यभार सम्भाला।

आजादी के बाद सन् 1948 में प्रदेश सरकार ने 'संग्रहालय पुनर्गठन समिति' का गठन किया। समिति ने एक सुझाव दिया कि यदि संग्रहालय को अधिक विस्तृत रूप देना है तो एक नई इमारत और बनवानी होगी। 15 अगस्त सन् 1956 को संग्रहालय के नवीन भवन का शिलान्यास उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा किया गया।

बनारसी बाग में यह विशाल इमारत सन् 1960-62 में बनकर तैयार हो गयी। 12 मई 1963 ई० को प्रधानमन्त्री स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसका उद्घाटन किया। यह संग्रहालय सांस्कृतिक कार्य विभाग उ० प्र० द्वारा नियन्त्रित राजकीय संस्था है।

आज इस संग्रहालय में विश्व की तमाम प्राचीन सभ्यताओं से जुड़ी वस्तुएँ रखी हैं। जिनमें मिश्र देश की 3000 वर्ष पुरानी 'ममी' भी है। इसके अतिरिक्त आठवीं शताब्दी के सिक्के, मध्यकालीन मूर्तियाँ, अस्त्र-शस्त्र, पुराने तन्त्र, वाद्य-यन्त्र वस्त्र, सिक्के आदि मुख्य हैं।

संग्रहालय में 156 से भी अधिक अनेक तरह के अभिलेख हैं कुछ अभिलेख पत्थरों ताम्रपत्रों व सीलों पर खुदे हैं। एक ताम्रपत्र पर महाराज हर्षवर्धन के हस्ताक्षर हैं। बासखेड़ा व गहड़वाल शासकों के ताम्रपत्र एवं कुमार गुप्त द्वितीय के वक्त की भित्तरी की सील देखने योग्य है।

श्रावस्ती, भीतरगाँव, पूसानगर, हड़प्पा व मोहन जोदड़ो, काली बगान नेदासा, बहल, चन्दौसी आदि जगहों से जो मूर्तियाँ मिली हैं वह भी यहाँ देखी जा सकती हैं।

'डा० फ्यूरर' के बाद डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रो० के० डी० बाजपेयी, डा० भगवत शरण उपाध्याय, पं० हीरानन्द शास्त्री, के० एन० दीक्षित, आर० डी० बनर्जी आदि अनेक महान विभूतियों ने संग्रहालयाध्यक्षों के रूप में कार्य किया।

स्टेशन चारबाग—चारबाग स्टेशन की इमारत मुस्कुराती हुई लखनऊ तशरीफ लाने वालों का स्वागत करती है। स्टेशन पर कदम रखते ही कहीं न कहीं लिखा अवश्य देखा जा सकता है—'मुस्कराइये कि आप लखनऊ में हैं।' कोई मुस्कुराये या न मुस्कुराये लेकिन चारबाग स्टेशन की इस भव्य और खूबसूरत इमारत को देखकर उँगली जरूर उनके दांतों तले दबकर रह जाती है।

अंग्रेज सरकार के अफसरों के दिमाग में बड़ी लाइन के एक स्टेशन के निर्माण का विचार कौंधा। इस स्टेशन के बनने से पूर्व ऐशबाग स्टेशन ही सर्वेसर्वा था। जैकब महोदय ने चारबाग स्टेशन का नक्शा तैयार किया। 21 मार्च सन् 1914 को वह दिन भी आ गया जब बिशप महोदय ने एक ईंट रखकर इसके निर्माण की शुरुआत का मार्ग प्रशस्त कर दिया। लखनऊ का खूबसूरत चारबाग उजाड़ कर रेल लाइनों का जाल बिछा दिया गया।

इसके निर्माण में तकरीबन 65 से 70 लाख रुपयों की लागत आयी। इसी चारबाग स्टेशन पर 'साइमन कमीशन' के विरोध में लाखों लोगों पर पुलिस ने बर्बरता पूर्ण लाठी चार्ज किया था। 30 नवम्बर, 1928 को 8 बजे साइमन कमीशन लखनऊ पहुँचने वाला था। पं० जवाहर लाल नेहरू और गोविन्द बल्लभ पन्त के नेतृत्व में एक विराट जुलूस 'साइमन गो बैक' का नारा लगाता हुआ आगे बढ़ रहा था। जुलूस अमीनबाद, लाटूश रोड होते हुए प्रातः 7 बजे के करीब ही चारबाग स्टेशन पहुँच गया। पुलिस ने आगे बढ़ने से रोका, जब चेतावनी का कोई असर न हुआ तो लाठियों व हण्टरों की बरसात होने लगी। जवाहर लाल नेहरू, गोविन्द बल्लभ पन्त बुरी तरह घायल हुए। हकीम अब्दुल व उमानारायन बाजपेयी का सिर फट गया।

चारबाग के आस-पास की जमीन पर खून की छींटों ने अपनी कहानी लिख दी थी।

खण्ड-तीन

अदब, तहज़ीब और आपसी भाईचारे की मिसाल है–लखनऊ

'लखनऊ' सारे संसार के सामने तहज़ीब, अदब और आपसी भाई-चारे की एक मिसाल पेश की है। यहाँ के बीतचीत करने, अभिवादन एवं कुशलक्षेम पूछने का ढंग काबिले तारीफ रहा है।

'आइए-आइए जनाब तशरीफ रखिये' कहते हुए झट खड़े होकर बड़े आदर से आगन्तुक को बैठाना, उसके बैठने पर ही बैठना, 'नोश फरमाइये', 'पान पेश है कुबूल फरमाइये' कहते हुए पान पेश करने का लखनवी अन्दाज अपने आप में निराला ही है। इसी तरह से अभिवादन के भी तमाम आत्मिक अनुभूति युक्त वाक्य है जैसे-अस्सलाम आलैकुम, सुबह कुमा अल्ला बिलखैर, मस्साकुम अल्ला बिलखैर आदि। लखनऊ के रईसों ने कुछ खास अभिवादन इजाद किये थे जैसे—बंदगी, अदाब बजा फरमाते हैं, तसलीम···आदि।

'जोश मलिहाबादी' ने लखनऊ की इसी खूबी के सम्बन्ध में कहा है—"अजीबतर नजर आये—लखनऊ के रईस, आलिम, अदीब और शायर। अल्लाह-अल्लाह उनके वे लचकीले सलाम, उनके उठने-बैठने के वे पाकीजा अन्दाज, उनके बेतहजीब में डूबे हाव-भाव, उनके लिबास की वह अनोखी तराश-खराश, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर उनका वह वाद-विवाद, उनके शब्दों का ठहराव, उनके लहजों के वे कटाव, गजल सुनाते समय शेर के भाव के अनुसार उनकी आँखों का रंग और चेहरे का रंग, वह कहकहों से बचाव, उनका हक्का-बक्का तबस्सुम, विनम्रता के साँचे में ढला हुआ उनका वह स्वाभिमान और बावजूदे कमाल उनका हाथ जोड़-जोड़कर अपनी कम इलमी का एतराफ। ये सारी बातें देखकर मैं आश्चर्य चकित रह गया। वे तमाम लोग इस कदर सभ्य, शालीन और सुसंस्कृत थे कि ऐसा मालूम होता था—वे इस दुनिया के नहीं किसी प्रकाश मण्डल के वासी हैं।"

अवध के नवाब भी सभी से बड़े ही प्रेमपूर्वक मिलते थे। नवाब वाजिद अली शाह तो अपने नौकरों तक को भी सम्मान देते थे। वह चिराग जलाने वालों को

'कवंल बरदार', हकीम को 'तवीबुद्दौला', मेहतरानी को 'नवाजजहाँ', हुक्कावरदार को 'कलियाबरदार', क़िस्सागो को 'आरामगोश', कहारों को 'कादिरबख्श', खाना देने वालों को 'आबकश खासा बरदार', कहकर सम्बोधित करते थे।

इन सम्बोधनों का मकसद यह था कि किसी भी शख्स में अपने काम को लेकर कोई हीन भावना जाग्रत न हो। लखनऊ के दो वाक्य बड़े ही मशहूर रहे हैं—'पहले आप', 'पहले आप'। यदि कहा गया कि—'पहले आप चलें' तो तुरन्त कहा जाता—"अरे जनाब आप आगे तशरीफ ले चलें यह खाकसार किस क़ाबिल है।"

इसी पहले आप, पहले आप पर एक किस्सा बड़ा मशहूर है—एक दिन लखनऊ आये अपने दोस्त के साथ किन्हीं साहब को बाहर जाना पड़ा। दोनों लोग स्टेशन पहुँचे। लखनऊ वाले सज्जन ने अपने दोस्त से गाड़ी पर चढ़ने का आग्रह किया, परन्तु उन्होंने भी कहा—'नहीं पहले आप' और इसी चक्कर में गाड़ी छूट गयी।

'शेरो-शायरी' लखनऊ का प्रिय शौक रहा है। यदि महफिल जमी है तो हाथ उठाकर, सर हिलाकर-इरशाद, वाह-वाह, क्या बात है, जवाब नहीं—कहकर शेरो-शायरी कहने वाले की हौसला अफ़ज़ाई की जाती।

कहना गलत न होगा कि पाश्चात्य सभ्यता ने यहाँ की तहजीब, तमद्दुन और अदब को क़ाफी नुकसान पहुँचाया है। लखनऊ में बम्बइया वाक्य भी कुछ कम धूम नहीं मचाये हैं। चुप बे, ओय फूट बे, कम हो—आदि फूहड़ शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। आज कल कुशल क्षेम पूछने का एक नया वाक्य उभर कर सामने आया है—'हाय'। इसका प्रयोग लड़कियों में ज्यादा नजर आता है—हाय कैसे हो, कैसी हो। ऐसा लगता है जैसे किसी ने पीछे से लाठी दे मारी हो, बेचारी 'हाय करके रह गयी।

अब आते हैं लखनऊ के आपसी प्रेम और भाई-चारे से युक्त माहौल में, जिसने सारे संसार के आगे एक मिसाल कायम की है। जहाँ मुसलमानों ने अलीगंज टिकैतगंज, सरायशेख, नवाबगंज में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण करवाया वहीं हिन्दुओं ने भी अमीनाबाद, मौलवीगंज, मेहदीगंज और ठाकुरगंज में मस्जिदें बनवायीं। दोनों ही कौमों में ऐसा आपसी प्रेम और भाई चारे का उदाहरण शायद ही कहीं और मिले।

लखनऊ में दोनों ही सम्प्रदायों के लोग मिल-जुलकर त्योहार मनाते, एक-दूसरे की खुशियाँ व गम बाँटते। बादशाह गाजीउद्दीन हैदर जन्माष्टमी के अवसर पर मन्दिर में जरूर जाते और रामलीला के जलूसों में शरीक होते थे। बसन्त-पंचमी के त्योहार पर छतर मंजिल में खूब जमकर धमा-चौकड़ी होती। हिन्दू भी हजरत हुसैन की शहादत की याद में मनाए जाने वाले मुहर्रम में हिस्सा लेते थे। आज भी नख्खास से उठने वाले ताजिये को हिन्दू ही उठाते हैं। चौक में होने

वाली रामलीला के आयोजन में मुसलमान भाइयों का बड़ा सहयोग रहता है।

जहाँ मुस्लिम औरतों ने हनुमान जी के मन्दिर में, शीतला देवी के सामने हाथ जोड़कर फरियादें की हैं, वहीं हिन्दू औरतों ने भी सन्तों की मज़ारों व मस्जिदों में अपने बीमार बच्चे को ले जाकर फूक डलवाई है, मिन्नतें की हैं। चारबाग में स्थित 'खम्बनपीर' की मज़ार पर हर बृहस्पतिवार को अनेक हिन्दू चादर व प्रसाद चढ़ाने जाते हैं।

नवाब वाजिद अली शाह दोनों ही सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखते थे। एक बार कौम के नाम पर अमीर अली ने नवाब साहब को भड़काना चाहा और हिन्दुओं के खिलाफ मदद माँगी। नवाब साहब के गुस्से का ठिकाना न रहा, अमीर अली को ऐसी फटकार पड़ी कि उन्हें उल्टे पैर भागते ही बना। नवाब साहब ने सख्ती से भड़के दंगे को दबा दिया और तमाम हिन्दुओं की रक्षा की।

नवाब वाजिद अली शाह की हुकूमत के वक्त 'होली' और 'मुहर्रम' के अवसर पर शराब नहीं बिक सकती थी। मुंशी शंकर दयाल 'फरहत' जी ने नवाब साहब से शराब पीने की इजाजत माँगी—लिखा—

'कुर्कमय अय्याम होली में कहों क्या कीजिये।
जी में आता है कि इस सूरत में कंठी लीजिये।
गर तमाशा कायथो का देखना मंजूर हो।
शाह दो दिन के लिए मय की इजाज़त दीजिये।"

नवाब साहब ने उत्तर दिया—"घर में बैठकर पीने की इजाज़त है, सरे आम नहीं।"

सरदार बल्लभ-भाई पटेल जी ने लखनऊ की इन्हीं तमाम खूबियों को देखते हुए कहा—

"लखनऊ हमारे मुल्क का एक बहुत पुराना शहर है। यह हिन्दू और मुसलमान दोनों की मिश्रित संस्कृति का एक केन्द्र है। इस शहर की पुरानी बातें हम सदा सुनते रहे हैं।"

'स० ही० वात्सायन अज्ञेय जी' ने लखनऊ वालों के रास्ता बताने वाले अंदाज की प्रशंसा करते हुए कहा—

"लोगों को रास्ता बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं। लेकिन लखनऊ का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। लखनऊ में नफासत नहीं तो कुछ नहीं—जो मार्ग बताता है बड़े-इतमीनान से और आवाज में माधुर्य भरकर।"

मुर्गबाज़ी

लखनऊ की मुर्गबाज़ी दूर-दूर तक मशहूर थी। लखनऊ के किसी भी भाग में जब मुर्गबाज़ी होनेवाली होती तो एक दो दिन पहले से ही शहर भर में लोगों को खबर हो जाती थी। मुर्गबाज़ी के दिन सैकड़ों की भीड़ जमा होती थी। घड़ीभर में हजारों रुपयों की बाजियाँ लग जाया करती थीं।

मुर्ग लड़ाने वाले — लड़ाने के उद्देश्य से जिन मुर्गों को पालते उन्हें खूब खिलाते-पिलाते और रोज सुबह-बाकायदा उन्हें लड़ने की ट्रेनिंग देते। वैसे तो हर मुर्ग में लड़ने की प्रवृत्ति होती है मगर जो मुर्ग लड़ाये जाते थे वह दूसरी ही नस्ल के होते थे। यह नस्ल 'असील नस्ल' के नाम से जानी जाती थी। यह मुर्ग बड़े ही फुर्तीले और तेज तर्रार होते जिनका रंग लाल होता था।

'असील' मुर्गों के बारे में लोगों का कहना है कि यह नस्ल हिन्दोस्तान में 'अरब' से आयी थी। इस मुर्गों की नस्ल बढ़ाने, उनको रखने और लड़ाई के लिए तैयार करने के स्थान को 'कारखाना' कहा जाता था। मुर्गबाज़ अपने मुर्गों की देख-भाल, उन्हें लड़ाई की कला सिखाने के लिए उस्ताद रखते थे। यह उस्ताद उनके सारे जिस्म की जोरदार मालिश करते अपने मुँह में पानी भरकर फुहार मुर्गे के सारे शरीर पर मारते। लड़ाई से पूर्व मुर्गों की चोंच नुकीली बनायी जाती थी। बड़े प्यार से दाने हथेली पर या बरतन में रखकर उन्हें खिलाया जाता। मुर्गबाज़ी अक्सर चहारदिवारी से घिरे मैदान में या लम्बे-चौड़े हाल में होती थी। लड़नेवाले दोनों मुर्गों को 'जोड़ा' कहा जाता था। जब यह लड़ाई शुरू होती तो दोनों मुर्गों के मुर्गबाज़ अपने-अपने मुर्गों का हौसला बुलन्द करने के लिए चिल्लाते—हाँ बेटा काट, फिर वहीं काट-शाबास हाँ बेटा शाबास···आदि।

जब दोनों मुर्ग लड़ते-लड़ते जब लहू-लुहान हो जाते तो दोनों पक्षों की सहमति से यह लड़ाई कुछ समय के लिए रोक दी जाती थी। जिसे 'पानी माँगना' कहते थे। मुर्गों के खून निकलने वाले स्थान को पोंछा जाता सारे जिस्म पर पानी की फुहार मारी जाती। नवाब शुजाउद्दौला को मुर्गों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था वह अक्सर मुर्गों की लड़ाई का आयोजन करवाते थे। नवाब आसफुद्दौला और

नवाब सआदत अली खाँ उनसे बढ़कर मुर्गबाज़ी के शौकीन निकले। लखनऊ की मुर्गबाज़ी ने गोरी चमड़ी वालों के दिलों-दिमाग पर अपना अच्छा खासा प्रभाव डाला था।

'जनरल क्लाड मार्टीन' अपनी कोठी 'कासटेंशिया' (ला-मार्टीनियर) में अक्सर मुर्गबाज़ों को बुलाते और लड़ाई के बाद जिस पक्ष का मुर्गा जीतता वह अच्छे-खासे इनाम का हकदार होता। नवाब सआदत अली खाँ और मार्टीन साहब बढ़कर मुर्गे लड़ाया करते थे। मुर्गों की लड़ाई में हार-जीत का निर्णय होने में कभी-कभी छः सात दिन तक लग जाते थे। मेजर स्वारिस, फज्ले अली, हुसैन अली, नवाब मुहम्मद अली तक खाँ, आगा बरहानुद्दीन, मीर इमदाद अली, सैय्यद, मीरन साहब, नौरोज अली, मियाँ जान, कादिर जीवन खाँ, मियाँ दाराब अली खाँ आदि मशहूर मुर्गबाज़ थे।

लखनऊ के कई अन्य रईस जिनमें—वजीरगंज के ज़ाकिर हुसैन उर्फ मुगल साहब, ड्योढ़ी आगामीर के नवाब नजीर अली खाँ, नूरबाड़ी के हादी अली खाँ और—टूरियागंज के नवाबों को मुर्गबाज़ी का बड़ा शौक रहा। इन्होंने अपने मुर्गों को लड़ाने की कला सिखाने के लिए उस्ताद रखे थे। जिन्हें वह अच्छा-खासा पैसा भी देते थे।

मीर मूँगा, मुस्तफा हुसैन, छंगा, मिर्जा जान, सीतल, मुन्ने आदि बड़े मशहूर मुर्गबाज़ माने जाते थे। आमतौर पर यह लड़ाईयाँ मुहल्ला कटरा अबू तुराब खाँ में नवाब तजमुल हुसैन खाँ की बारादरी, काजमैन के करीब अहाता बुरहानुलमुल्क में होती थीं।

उस वक्त में मुर्गबाज़ी की लोकप्रियता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि मुर्ग लड़ाने से पहले लोग मनौतियाँ माँगते और जब उनका मुर्ग जीत जाता तो वह हर हालत में उन्हें पूरा करते। हारने वाले पक्ष का मुर्गबाज़ दो-चार रोज मारे शर्म के लोगों के सामने आने से कतराता था।

कनकौवे बाज़ी

पतंग उर्फ 'कनकइया' बड़ी पतंग उर्फ 'कमकउवा', बड़े ही अजीबो-गरीब नाम हैं यह भी। वैसे तो पतंग उड़ाने का सिलसिला बहुत ही पुराने जमाने में चीन, जापान और तमाम दूसरे मुल्कों में प्रचलित था। मगर जब इन पतंगों का शौक लखनऊ के नवाबों को हुआ तो एक नयी तबदीली इस दिशा में हुई। और मुल्कों में तो यह केवल उड़ाई ही जाती थी लेकिन लखनऊ में इनको लड़ाने की कला ईजाद की गयी।

नवाब वाजिद अली शाह के जमाने में लखनऊ की पतंगबाज़ी ने बड़ी तरक्की हासिल की। करती भी क्यों न—आखिरकार नवाब साहब पतंगबाज़ी के बेहद शौकीन जो ठहरे। नवाब वाजिद अली की हुकूमत के दौरान बहुत ही बड़ा सूखा पड़ा। उन्होंने लोगों की मदद करने का एक नया तरीका खोजा। पतंग उड़ाने से पूर्व उसमें थोड़ा सोना, चाँदी या रुपया बाँध दिया जाता। पतंग के कटने के बाद जो उन्हें पा जाता उसका एक-आध दिन के लिए पेट भरने का बन्दोबस्त हो जाया करता।

वाजिद अली शाह के बाद पतंगबाजों ने पतंगें उड़ाने के लिए गोमती नदी का किनारा अधिक बेहतर समझा। वहीं से पतंगबाजी शुरू हो गयी। पहले तो यह शौक नवाबों, वज़ीरों तक ही सीमित था धीरे-धीरे इसने रईसों के दिलों पर भी कब्जा कर लिया।

लखनऊ में एक पतंग इजाद की गयी। जिसका नाम 'तिक्कल' रखा गया। यह पतंग बड़ी मशहूर हुई इसमें कई कापें और ठुड्डे हुआ करते थे। इनकी शक्ल सितारे जैसी होती थी। लखनऊ के पतंगबाजों ने पतंगबाजी में बड़ी शौहरत हासिल की और शहर का नाम ऊँचा किया। लखनऊ में एक से बढ़कर एक पतंगबाज थे—जिनमें छोटे आगा, लाला रामदास, ज़की, डा० प्रेम बहादुर, लाला श्याम बिहारी, नजीर वगैरह मुख्य रहे।

इन 'पतंगों' और 'पतंगबाजी की एक साहसिक कहानी हमेशा याद की जायेगी।

साइमन महोदय लखनऊ तशरीफ लाए तो कैसर बाग बारादरी में एक कान्फ्रेंस होना तय हुई। कान्फ्रेंस चल ही रही थी कि उसी दौरान साइमन साहब के सामने कुछ काली पतंगे आकर गिरीं। जिन पर लिखा था 'साइमन गो बैक'। पतंगों की ऐसी जुर्रत देखकर वह बौखला गए। मगर जैसा पतंगों ने उनसे कहा वैसा ही करने में उन्होंने अपनी खैरियत समझी। इन पतंगों को उड़ाने वाले थे बालकराम वैश्य, मोहनलाल, श्री सी० बी० गुप्ता (चन्द्रभान गुप्ता)।

एक बुजुर्ग श्री अब्दुल रशीद बताते हैं—कि यह पतंगें आशिकों की बड़ी मददगार साबित होती थीं। जब महबूबा पर घर से निकलने पर पाबन्दी लगा दी जाती तो बेचारे महबूब साहब किसी पास की इमारत की छत पर चढ़ जाते और अपने तड़पते दिल का हाल खत में लिखकर पतंग से बाँध देते। पतंग उड़कर महबूबा की छत पर ठहा दी जाती। वह खत पढ़कर जवाब बेचारी पतंग के गर्दन में बाँध देती।

मैं लखनऊ के ही मशहूर पतंग बाज श्री 'बी० पी० श्रीवास्तव' साहब से मिला उन्होंने बताया कि पतंगें उड़ाने में केवल मर्दों को ही दिलचस्पी नहीं थी बल्कि औरतें भी बखूबी पतंगें उड़ाना और लड़ाना जानती थीं। चौक इलाके में 'जेली-खुर्शीद' नाम की एक महिला थीं उनके बराबर दूर-दूर तक कोई पतंग लड़ाने में माहिर नहीं था। उनसे बड़ी-बड़ी टीमें पतंग लड़ाने आया करती थीं।

लखनऊ के मशहूर बुद्ध पार्क से ही मिला हुआ 'पतंग पार्क' है। आज भी इसी जगह से बड़ी-बड़ी पतंग प्रतियोगिताएँ होती हैं। सन् 1983-84 में 'अखिल भारतीय पतंग प्रतियोगिता' लखनऊ के हुसैनाबाद घण्टा घर के पास 'टूडिया-घाट' मैदान पर आयोजित की गयी थी, जिसमें देश की जानी मानी 80 टीमों ने भाग लिया था, जो कि अपनी जगह एक कीर्तिमान है।

आज भी लखनऊ में अनेक मशहूर पतंगबाज मौजूद हैं। इनमें नरेश श्रीवास्तव श्री बी० पी० श्रीवास्तव, सिद्धू, हश्मत अली, अली मियाँ, फरीद मिर्जा आदि बड़े मशहूर पतंगबाज हैं तो बाबूलाल, इकबाल, श्याम लाल, एम० जमा मशहूर पतंग साज।

कबूतरबाज़ी

लखनऊ की नजाकत-नफासत ने अगर संसार में शोहरत पायी है तो यहाँ के लोगों के शौक भी कम मशहूर नहीं रहे हैं। लखनवी शौकों में मुर्गबाज़ी, तीतर लड़ाना, मेढ़ा युद्ध, बटेरबाज़ी, बुलबुल, पतंगबाज़ी आदि मुख्य थे।

उस समय कबूतरबाज़ी का शौक इस कदर लोगों के ऊपर छाया हुआ था कि हज़ारों में हार-जीत की बाजियाँ लग जाया करती थीं। नवाब शुजाउद्दौला को कबूतरबाज़ी का बड़ा शौक था। एक दिन बरेली ज़िले से एक आदमी उनके पास आया। 'सैयद यार अली' नाम था। नवाब साहब के सामने पहुँचा और नौकरी की दरख्वास्त की। नवाब साहब ने उससे चल रही गुफ्तगू के दौरान पूछ लिया आपको शौक किस चीज का है। सैयद अली ने कहा, 'कबूतरबाज़ी'। नवाब साहब बड़े खुश हुए आखिर था तो शौक में उनका जोड़ीदार ही। नौकरी मिल गयी। इस शख्स ने शौहरत व इज्ज़त को हासिल करने के साथ-साथ कबूतरबाज़ी के धन्धे में भी पैसा खूब बटोरा।

नवाब आसफुद्दौला को केवल बाग़ लगवाने व इमारत बनवाने का ही शौक नहीं था बल्कि वह कबूतरबाजी के भी बड़े शौकीन थे। भले ही कबूतर न उड़ाते हों मगर पालते जरूर थे। उनके महल में करीब तीन-चार लाख कबूतर पले थे।

नवाब साहब एक दिन ऐशबाग़ में सैर कर रहे थे। तभी उनके पास एक लड़का दो कबूतर लेकर आया और नवाब साहब को नज़र कर दिया। नवाब साहब ने लड़के को एक जोड़े कबूतर का दाम एक रुपया दिलवा दिला। लड़के ने एक रुपया तो ले लिया मगर वह गया नहीं। नवाब साहब ने कहा, पैसा तो पा चुके हैं अब कौन सी परेशानी है। लड़का आँखों में अश्क भर के बोला, 'हुज़ूर मैं कोई चिड़ीमार नहीं सैयदज़ादा हूँ। मेरे वालिद का इन्तकाल हो गया है। दो रोज़ से खाना नहीं नसीब हुआ।' नवाब साहब को बड़ा अफसोस हुआ उन्होंने उसे 100 सिक्के दिलवा दिये। लड़का जब उन सिक्कों को लेकर आगे बढ़ा तो दरोगा ने उससे कहा—'अमाँ बड़े होशियार निकले दो टके केकबूतर के 100 रुपये ऐंठ लिए'

नवाब साहब ने यह सुन लिया और दरोगा का कान पकड़ कर कहा—'क्या मैं यह नहीं जानता हूँ ?'

कबूतरबाज़ी ने सआदत अली खाँ, गाज़ीउद्दीन व नसीरुद्दीन के समय में बड़ी उन्नति की। इस शौक के शौकीन तमाम रईसों ने अफगानिस्तान, काबुल तक से 'पटैत' नाम के कबूतर मंगाये थे। नवाब नसीरउद्दीन कबूतरों को उड़ते देखना ज्यादा पसन्द करते थे। वह 'छतर मंजिल' और कभी 'दिल आराम कोठी' में बैठ-कर घण्टों कबूतर के झुण्डों को उड़ते देखा करते थे।

नवाब वाजिद अली शाह ने एक जोड़ा कबूतर 24 हजार रुपये में खरीदा था। उन्होंने 'मटिया बुर्ज' में हजारों की तादाद में कबूतर पाल रखे थे। लखनऊ के जिन कबूतरबाज़ों ने कबूतरबाज़ी में शोहरत हासिल की उनमें सैयद याद अली मीर अब्बास, मीर अमान अली, गुलाम अब्बास आदि मुख्य थे। मीर अमान अली के बारे में 'श्री अब्दुल हलीम 'शरर' अपनी किताब 'गुजिश्ता लखनऊ' में लिखते हैं कि—

"उन्होंने ऐसा कमाल पैदा किया था कि कबूतर को रँग कर जैसा चाहते बना देते। अक्सर उनके पर (पंख) उखाड़कर दूसरे रँग का पर उसी के सुराख में रख कर इस तरह जमा देते कि वह असली परों की तरह जम जाता और बहुत सी जगहों पर रंग से काम लेते। मगर ऐसा मजबूत और पक्का रंग कि मजाल क्या जो जरा फीका भी पड़ जाये। बरस भर तक रंग कायम रहता। मगर जब कुरीज में पर गिर जाते तो फिर असली रँग निकल आता। उनके इन कबूतरों में से हरेक पन्द्रह-बीस रुपये में बिकता और अमीर लोग बड़े शौक से लेते। वह भ्रान्तियाँ भी बना लिया करते जो लाखों में एक निकलता और रग की भिन्नता और गली की दृष्टि से बेमिसाल होता।'

लखनऊ की कबूतरबाज़ी काफी मशहूर रही इसमें कोई सन्देह नहीं। इस पर एक किस्सा याद आता है कि कुछ सालो पहले जब टेलीविजन दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता जैसे महानगरों में ही था और लोगों ने इसके बारे में केवल सुन ही रखा था। लखनऊ से एक सज्जन दिल्ली गये वहाँ छतों पर टी० वी० के एन्टीने लगे देखे तो पूछ लिया—क्या भई यहाँ के लोग भी कबूतरबाज़ी के शौकीन हैं। उन्होंने जिस से पूछा वह साहब फौरन भाँप गये—हो न हो यह जनाब लखनऊ से ही तशरीफ लाये हैं।

बटेर एवं तीतरबाज़ी

बटेरबाज़ी लखनऊ में पंजाब से आई। इस शौक ने लोगों के दिलों पर नवाब सआदत अली की हुकूमत के वक्त से अपनी जड़ें जमानी शुरू कर दीं।

बटेर की दो किस्में होती हैं पहली तो 'चनंग' दूजी 'घाघस' इनमें चनंग नस्ल का बटेर लड़ने में बड़ा माहिर होता है। नवाबी वक्त में बटेरबाज़ी भी अधिकांशतः बढ़कर ही होती थी। बटेरों की लड़ाई में हार-जीत का नतीजा आधे या पौन घण्टे में ही निकल आता है।

लखनऊ के पुराने बटेरबाज़ों में ख्वाजा हसन, मीर फिदा, गाज़ीउद्दीन खाँ, नवाब मिर्जा, शेख मोमिन, छोटे खाँ, सैय्यद मीरन बड़े मशहूर थे। मैं लखनऊ के मशहूर तीतरबाज़ श्री ओमकार गिरि से मिला। 'गिरि' जी को बटेर और तीतर लड़ाड़े का शौक बचपन से ही था। उन्होंने बाराबंकी के सतरिख, गोसाईगंज, जगदीशपुर, रानी का बाजार, धोरी, रामपुर, महमूदपुर, अमरोहा, मथुरा, बरेली, आगरा यहाँ तक कि उन्होंने दिल्ली और बम्बई में भी बटेर एवं तीतर लड़ाकर शोहरत हासिल की है।

लखनऊ महोत्सव 1979 में उन्हें 'आल इण्डिया चैम्पियन' का खिताब भी हासिल हो चुका है। ओमकार गिरि जी ने बतलाया कि बटेर और तीतर लड़ाने के नियम लगभग समान ही हैं। इनकी चोंचें नुकोली और तेज होनी चाहिए जिससे कि वह अपने विरोधी को घायल कर सके। इसके अलावा उन्हें आँख पर फुर्ती से चोट करने में माहिर होना चाहिए। लखनऊ में तीतर और बटेर की यह लड़ाई अक्सर बाबा हजाराबाग, मलिहाबाद, बंथरा, माल आदि जगहों पर होती थीं। आज भी लखनऊ में अनेक मशहूर तीतर एवं बटेरबाज़ मौजूद हैं जिनमें गंगा, मो० सफी, कमलाकान्त दीक्षित, भरोसे, मूलचन्द, नंगू, भैरव, विद्यासागर, आगा साहब, बाबू कसाई मुख्य हैं।

चिकन व जामादानी कला

लखनऊ का चिकन उद्योग बड़ा मशहूर रहा है। चिकन का काम नवाबीन वक्त में खूब फला-फूला। नवाब आसफुद्दौला ने इस कला में माहिर लोगों को बड़ा प्रोत्साहित किला। शुरू-शुरू में चिकन के कपड़े नवाब खानदान तक ही सीमित रहे। मगर चिकन कला से युक्त कपड़ों की खूबसूरती नवाबों के खानदानों में ही दबकर नहीं रह सकी।

लखनऊ की चिकन कला की सबसे बड़ी खुसूसियत यह होती थी कि मखमल जैसे बारीक कपड़े पर भी बखूबी इस कला के सौन्दर्य के जादू को उभारा जाता। गिरह और टाकें भी इस कदर होशियारी से लगाये जाते कि वे भी डिजाइन जैसे ही मालूम होते।

इन टाकों को भी अनेक नामों से जाना जाता यथा—मुर्री (मुण्डी) कट वर्क, धूम, रोपची (ठप्पा), बखिया आदि। यह टाकें अपने नामों की तरह डिजाइनों में भी भिन्नता रखते थे। अंग्रेजों ने इस कला को लखनऊ से नेस्तनाबूद ही कर दिया इस काम में लगे हज़ारों लोग रोज़ी-रोटी के लिए मोहताज़ हो गये। मगर यह कला कहीं न कहीं साँस लेती ही रही। चिकन कला आज भी चौक, डालीगंज व अन्य पुराने इलाकों में जीवित है।

'ज़ामदानी'—यह 'फारसी भाषा' का शब्द है। जिसका अर्थ है करघे से बने हुए बड़े ही बारीक एवं उच्चकोटि के सूती कपड़े। जामदानी कपड़ा नवाबों को बड़ा प्रिय था।

अवध में जामदानी का उदय कब हुआ, कहाँ हुआ इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं प्राप्त होती। रायबरेली जिले के 'जायस' गाँव में निवासी 'भीका' ने अपने हाथ की बुनी जामदानी नवाब आसफुद्दौला और हैदराबाद के निज़ाम सिकन्दर शाह को नज़र की थी। कपड़ा इतना पसन्द आया कि उसे काफी इनाम मिला और यहीं से इस कला का विकास शुरू हुआ। सबसे उम्दा किस्म की जामदानी को 'पेंच' कहते थे और दूसरे नम्बर की जो जामदानी थी उसको 'जूही' 'खड़ा बेल' आदि नामों से जानते थे।

टाँडा की बनी जामदानी अच्छी किस्म की मानी जाती थी। बूटेदार व बेल डिज़ाइन की जामदानी काफी लोकप्रिय थी। कुछ जामदानियाँ ऐसी बुनी जाती जिन पर धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षाप्रद बातें लिखीं (बुनी) होती थी।

लखनऊ का पहनावा

लखनऊ नवाबों, रईसों तथा शौकीनों का शहर रहा है सो लि ास के मामले में आखिर क्यों पीछे रहता। पुराने समय में तरह-तरह के लिबासों का लखनऊ में चलन था।

यहाँ के लिबास का जिक्र अगर सिर पर पहनने वाली टोपी से शुरू किया जाए तो बेहतर होगा। नवाबीन वक्त में एक टोपी बड़ी मशहूर थी जिसे 'पंचगोशी टोपी' कहते थे। यह टोपी खासकर नवाबों में बड़ी लोकप्रिय रहीं। कहते हैं इस टोपी को जो शख्स पहनकर निकलता उसे काफी इज्जत बख्शी जाती। लोग समझते हो न हो हो इस आदमी की पहुँच ऊपर दरबार तक जरूर होगी।

जैसा कि नाम से कुछ-कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है 'पंचगोशी'—अर्थात—वह टोपी जिसमें पाँच गोशे (किनारे) हों। इस टोपी का ऊपरी हिस्सा बँधा हुआ रहता था। कुछ लोग 'दुपल्ली' टोपी का इस्तेमाल करते थे। यह टोपी खासकर मौलाना लोग धारण करते थे। जिसका आकार नाव की तरह का होता था और मुख्यतः दो रंगों में ही होती थी। एक सफेद और दूसरी काले।

नवाब सआदत अली खाँ एक नयी प्रकार की टोपी लगाते थे। जिसे लोग 'शमला' कहते थे। वाजिद अलीशाह भी एक खास तरह की टोपी पहनते थे जिसे 'आलम पसन्द' कहते थे। इस टोपी का नाम आलम पसन्द इसलिए पड़ा कि यह वाजिद अली शाह को बड़ी पसन्द थी और उन्हीं की खोज भी।

जिस शख्स को 'दौला' का खिताब मिलता उसको 'आलम पसन्द' भी दी जाती थी। यही कारण था कि इस टोपी धारण करने वाले शख्श की काफी इज्जत होती थी।

'आलम पसन्द' टोपी को पहनकर दरबार में आना अनिवार्य था। जिसे 'दरोगा' का खिताब मिलता तो उसे 'शमला' भी दी जाती।

नवाबीन वक्त में अंगरखे का काफी चलन था। अंगरखे में बायीं ओर की छाती खुली रहती थी। दूसरी खुसूसियत यह कि इसका निचला सिरा चौड़ा होता था।

'छकलिया' को नवाबीन सर्दियों में इस्तेमाल करते थे। इसमें नीचे की ओर कल्ली लगी होती थी। आज जो शेरवानी नजर आ रही है उस समय चलन में न थी। यह हैदराबाद दक्खिन का मुख्य पहनावा था।

जाड़ों में शालों की खूब बिक्री हुआ करती थी। जाड़ा शुरू होने पर पहाड़ी क्षेत्रों से तमाम कारीगर लखनऊ आ जाते थे और इस मौसम में जमकर कमाई करते। अनेक कारीगर अपनी अच्छी आमदनी होती देखकर लखनऊ में ही बस गये थे।

उन दिनों लोगों में चूड़ीदार पायजामा ज्यादा चलन में था। 'अलीगढ़ पैजामे' का कोई नामोनिशान न था। दूसरी तरह का पायजामा जिसकी मोहरी चौड़ी होती थी प्रायः आम चलन में था।

अब एक नज़र जूतों पर भी—जिस तरह से मन्दिरों में पुजारी लोग खड़ाऊँ पहने हैं उसी तरह 'मौलाना' लोग भी एक प्रकार की जूतियाँ पहनते थे। जो पीछे से खुली रहती थी। इसके अतिरिक्त मखमली, पेताली, नागरा आदि तमाम तरह के जूते भी बड़े मशहूर रहे।

शौक पान का

'पान हमारे मुल्क का पुराना शौक रहा है। जब यहाँ हिन्दू राजाओं का शासन था तब भी इसका बड़ा महत्व रहा हर एक शुभ काम में पान की मौजूदगी ज़रूरी है। राजा जब युद्ध के लिए निकलता तब एक आदमी थाल में पान के बीड़े लगा कर सामने लाता। राजा थाली में रखे मखमली कपड़े में ढके उन पानों की ओर नजर डालकर कहता—'कौन बीड़ा उठायेगा ?' इसका तात्पर्य यह होता कि इस युद्ध या अभियान की सारी जिम्मेदारी कौन लेगा।

सेनापति मंत्री या अन्य कोई वीर पुरुष जब उस बीड़े को उठा लेता तो यह समझा जाता कि उसने उस कार्य का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। है। धीरे-धीरे एक शब्द ही मशहूर हो गया— 'बीड़ा उठाना।'

जब दरबार में किसी विशिष्ठ व्यक्ति का पदार्पण होता तो सबसे पहले उसकी खातिरदारी में पानों का बीड़ा हाजिर किया जाता। यही पान जब अवध के दिल यानि कि लखनऊ आया तो पान और उसमें डाले जाने वाले तमाम तरह के मसाले बड़े मशहूर हुए। एक बार जिसके मुँह में लखनऊ के पान का ज़ायका लग जाता वह उसे जिन्दगी भर न भुला पाता। वह और बात है कि फिल्म वालों ने 'बनारस के पान' को मशहूर कर दिया। हाँ आज वह खूबी तो लखनऊ के पान में न बची जो पहले कभी हुआ करती थी।

लखनऊ में पान और पान में लगने वाले तरह-तरह के मसालों को रखने के लिए एवं 'पान की पीक' थूकने के लिए निहायत खूबसूरत बर्तन जिन्हें 'पानदान' 'पीक दान' कहा जाता था, ईजाद हुए। यह इतने खूबसूरत होते थे कि बाहर से जो भी शख्स लखनऊ आता वह इन बर्तनों को खरीद कर जरूर ले जाता।

पान और तम्बाकू का तो चोली दामन का साथ है। पान मशहूर हुआ तो तम्बाकू भी अपने खुशबूदार लेकिन तेज-तर्रार तेवर के कारण बड़ी मशहूर हुई। कहते हैं कि सुबह तम्बाकू का पान लोग खा लेते तो शाम तक खुशबू बनी रहती।

कत्था बनाते वक्त यह ध्यान रखा जाता कि उसमें बकटाहट व कड़वाहट न

रहने पाये। इसी तरह चूना भी खाने लायक बनाया जाता।

'हर जगह और हर शहर में मामूली चूना इस्तेमाल होता है, जो अक्सर छना व साफ नहीं होता सिवाय इसके कि चूना बहुत ही तेज और अक्काल चीज है। चूने को खूब छानकर और साफ करके इसमें थोड़ी सी मलाई, ताजे दही का तोड़ छानकर मिला देते इस तरीके से लखनऊ के नफीस मिजाज लोगों के पान-दानों में ऐसा अच्छा बढ़िया और नुकसान न पहुँचाने वाला चूना होता कि और जगह नहीं मिल सकता।[1]

'दूसरी चीज है कत्था छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे पानी में पकाते और जब उबलकर वह लाल शर्बत सा हो जाता तो कपड़े से छानकर पानी रखकर जमा देते। आमतौर पर इतना सभी जगह ही होता। मगर यहाँ (लखनऊ में) एक थाल या तवे में राखा भरकर उस पर एक कपड़ा डालते और उस कपड़े पर जमे हुए कत्थे को रोटी की तरह फैला देते और बराबर पानी छिड़कते जाते। पानी उसकी सुर्खी को लेकर जिसमें बखटापन होता है, राख में समा जाता इस तरह साफ करते-करते कत्थे का सिर्फ वह मजेदार हिस्सा बाकी रह जाता जो धोये कपड़े का सा सफेद और बहुत ही उम्दा होता। फिर उसमें केवड़े की खुशबू देकर या केवड़े के फूल में रखकर सुखा लेते। यह ईजाद लखनऊ की है।'[2]

आज भी लखनऊ के चौक, हजरतगंज, चारबाग क्षेत्र में ऐसी दुकानें हैं कि पान खा लीजिए तो ताजगी महसूस होने लगती है। फिर भी अब वह बात तो रही नहीं।

नवाबीन वक्त में हर घर में एक पानदान जरूर होता। अधिकांशतः पानदान चाँदी और ताँबे के होते। ताँबे के पानदानों पर ऐसी पालिश कर दी जाती थी कि दूर से अन्दाजा लगाना मुश्किल होता कि पानदान चाँदी का है या ताँबे का। अधिकांशतः पानदान संदूकची के आकार के होते थे। इन पर बड़ी बारीकी से डिजाइनें बनाई जाती। पान के अन्दर तमाम खाने होते जिसमें सबसे बड़ा खाना 'पान' रखने और छोटे खाने तम्बाकू, चूना, कत्था, डली आदि रखने के लिए होते थे। वैसे तो पानदानों के ऊपर भी बन्द करने के लिए ढक्कन होता था फिर भी अन्दर इन सभी खानों को ढकने के लिए छोटे-छोटे खूबसूरत ढक्कन होते थे। पान दान दो तरह के होते थे एक तो घर में इस्तेमाल करने और दूसरा जेब में रखने लायक। अब बाहर जाते वक्त बड़ा सा पानदान साथ लेकर चलना तो मुनासिब नहीं।

'पीकदान' भी खूबसूरती में कम नहीं थे। ज्यादातर यह खड़े बनाये जाते थे। इनका निचला हिस्सा गोलाकार होता था। जिसके ऊपर एक राड लगी होती और

1, 2—गुजिश्ता लखनऊ

इसी राड के ऊपरी सिरे पर कटोरे की तरह का पीकदान बना होता जिस पर ढक्कन भी होता था।

वक्त के साथ ही साथ पान भी अपनी विशेषताएँ खोता गया और लुप्त होते गये खूबसूरत बर्तन भी। एक जमाना था जब कोई मेहमान तशरीफ लाता तो उसकी खातिरदारी में सबसे पहले पान पेश किया जाता था। जिसकी जगह अब 'चाय' और 'कॉफी' ने हासिल कर ली है। हाँ पान में आज भी एक ताकत मौजूद है अपना कोई रुका काम करवाना हो, खोई फाइल निकलवानी हो या गुप्त जानकारी हासिल करनी हो पान का दामन थामना ही पड़ता है।

लखनवी खान-पान

लखनऊ का जिक्र हो और खान-पान छूट जाये यह तो नामुमकिन है। लखनवी खान-पान हिन्दुस्तान में ही नहीं दुनिया के तमाम मुल्कों में मशहूर रहा है। शीरमाल, कबाब, पुलाव आदि को जाने दीजिए, लखनवी रोटियाँ व खिचड़ी तक का स्वाद जिस शख्स की जुबान पर एक बार लग जाता वह जिन्दगी-भर याद रहता।

दूध में आटा गूँथकर, शक्कर मिलाकर बड़ी ही मुलायम जो रोटियाँ तैयार की जाती उन्हें रोग़नी रोटी कहते थे। इन रोटियों के मुलायम होने का एक कारण और रहा 'आटे को घण्टों तक गूँधा जाना'। इसी तरह जब खिचड़ी बनती तो पिस्ता, बादाम, ईलायची आदि डालने में कोई कसर बाकी न रह जाती।

"सलारजंग अपने एक बावरची को 1200 रुपये महीने तनख्वाह देते थे। वह केवल उन्हीं के लिए पुलाव तैयार करता था। पुलाव बनाने में उसके बराबर माहिर दूर-दूर तक कोई न था।"[1] एक दिन नवाब आसफुद्दौला के पास एक बावरची आया। नवाब साहब उसे 500 रुपये माहवार तनख्वा देने पर राजी हो गये, मगर उसने तुरन्त कहा—"मैं चन्द शर्तों पर ही नौकरी करूँगा।" नवाब साहब ने पूछा—'वो शर्त क्या हैं।' उत्तर दिया—"जब हूजूर को मेरे हाथ की दाल का शौक हो तो एक रोज पहले से हुक्म हो जाए, और इत्तला दूँ कि तैयार है तो हूजूर उसी वक्त खालें। नवाब साहब ने खुशी-खुशी यह शर्त मंजूर कर ली। कुछ दिन बीतने पर उसे दाल पकाने का हुक्म आया। दाल तैयार कर उसने नवाब साहब को तीन बार खाना-खाने के लिए पुकारा, पर वह न आये। उसने दाल की हाँड़ी ले जाकर सूखे पेड़ की जड़ में उड़ेल दी और नौकरी छोड़कर न जाने कहाँ चला गया। बड़ी तलाश की गयी मगर उसका कहीं कुछ भी पता न चल सका"।[2]

"ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को जो अवध के पहले बादशाह थे पराठे पसन्द थे। उनका बावरची था जो हर रोज छह पराठे पकाता और फी पराठा पाँच सेर के हिसाब से 30 सेर घी रोज लिया करता। एक दिन गाजीउद्दीन के वज़ीर मोतमदउद्दौला आगामीर ने शाही बावरची को बुलाकर पूछा, 'यह तीस सेर घी क्या होता है?' कहा,

हुजूर, पराठे पकाता हूँ।' इस पर वजीर ने कहा, 'भला मेरे सामने तो पकाओ।' उसने कहा, 'बहुत खूब।' पराठे पकाये। जितना घी खपा खपाया और जो बाकी बचा फेंक दिया। मोतमदउद्दौला आगामीर ने यह देखकर हैरत से कहा, 'पूरा घी तो खर्च नहीं हुआ ?' उसने कहा, 'अब यह घी तो बिल्कुल तेल हो गया, इस काबिल थोड़े ही है कि किसी और खाने में लगाया जाय।' वजीर से जवाब तो न बन पड़ा मगर हुक्म दे दिया कि, अइंदा से सिर्फ पाँच सेर घी दिया जाया करे, फी पराठा के लिए एक सेर घी बहुत है।

बावरची ने कहा, 'बेहतर मैं इतने ही घी में पका दिया करूँगा।' मगर वजीर की रोक-टोक से ऐसा नाराज हुआ कि मामूली किस्म के पराठे पकाकर बादशाह के खाने पर भेज दिये। जब कई दिन यही हालत रही तो बादशाह ने शिकायत की कि 'ये पराठे अब कैसे आते हैं ?' बावरची ने अर्ज किया, "हुजूर जैसे पराठे नवाब मोतमनउद्दौला बहादुर का हुक्म है पकाता हूँ।" बादशाह ने उसकी असल वजह पूछी तो उसने सारा हाल बयान कर दिया। फौरन मोतमदउद्दौला की याद हुई। उन्होंने अर्ज किया, "जहाँपनाह, ये लोग ख्वाहमख्वाह को लूटते हैं।" बादशाह ने इस जवाब पर पाँच थप्पड़ और घूँसे रसीद किये। खूब ठोंका और कहा, "तुम नहीं लूटते हो तुम सारी सल्तनत और सारे मुल्क को लूट लेते हो इसका ख्याल नहीं। यह जो थोड़ा-सा घी ज्यादा ले लेता है और वह भी मेरे खाने के लिए, वह तुम्हें न गवार है। इसके बाद उन्होंने कभी उस रकाबदार पर एतराज न किया और वह उसी तरह 30 सेर घी रोज लेता रहा।"[3]

नसीरूद्दीन का एक बावरची केवल पिस्ते और बादाम की ही खिचड़ी तैयार करता था। पेरिस का एक रकाबदार नसीरुद्दीन के लिए विलायती मिठाइयों और नफीस मगरिबी खाने पकाया करता था। बादशाह पर यह पाश्चात्य का रंग इस कदर चढ़ चुका था कि उनके खाना खाने में भी विलायतीपन नजर आने लगा था। कोठी 'फरहत-बख्श' में जब कभी अंग्रेज अफसरों व खुसूसी मेहमानों की खातिरदारी में दावतें दी जाती तो अंग्रेजी शराब और तमाम तरह के पकवानों का ढेर लग जाता। देखते-ही-देखते 50-60 हजार रुपये इन दावतों पर हवा हो जाते।

नवाब मलकाजहाँ को पोदीने की चटनी इतनी पसन्द थी कि वह बिना चटनी खाये एक कौर भी हलक से नीचे न उतारतीं। जब बाहर जातीं तो सूखा पोदीना बड़ी मात्रा में रखा लिया जाता। अगर कहीं परदेश जाना हुआ तो पानी के जहाज पर ही मिट्टी इकट्ठी कर क्यारियाँ बनाकर पोदीना लगा दिया जाता।

1, 2, 3—गुजिश्ता लखनऊ

अकबरी दरवाजे से चौक तक क। इलाका अपने वक्त में बड़ा ही मशहूर रहा। यह नाच-गाने के अलावा खुशबूदार इत्र बनाने, तम्बाकू बनाने, चिकन जरदोजी, सोने-चाँदी, गोटा-किनारी जैसे कार्यों का भी केन्द्र था। इसी इलाके के खाने-पीने की चीजें बनाने वाले दूर-दूर तक मशहूर थे। आज भी इस क्षेत्र में कुछ दुकाने अपने पुराने अस्तित्व को कायम रखने के लिए संघर्ष कर रही हैं।

अकबरी गेट के करीब चौपटिया जाने वाली सड़क से दाहिनी तरफ को एक गली चौक की ओर चली जाती है। इसी गली में 'कबाबिए टुंडे' की एक दुकान है। इसके मालिक हाजी मुराद अली हैं। दुकान का इतिहास तकरीबन सवा सौ साल पुराना है। यह वही दुकान है जहाँ से कबाब दूसरे मुल्कों को भेजा जाता था। एक अच्छा-खासा मजमा इस दुकान पर जमता था। सन् 1936 में पं० शिव आधार राम आधार उर्फ 'राजा' ठंडाई की दुकान स्थापित हुई। यहाँ की भाँग मिली ठंडाई बड़ी ही मशहूर है। गर्मियों के दिनों में शाम के वक्त हरी ठंडाई पीने वालों की एक भीड़ देखी जा सकती है।

कभी नखखास के 'शीरमाल' भी हिन्दुस्तान में ही नहीं दूसरे मुल्कों में भी प्रसिद्ध थे।

संगीत

नवाबी वक्त में लखनउ ने नृत्य और संगीत में काफी उन्नति की। नृत्य और संगीत की बात हो और तवायकों का जिक्र न हो ऐसा तो नामुमकिन ही है। इन तवायफों ने अपने उसूलों के कारण बड़ी शोहरत हासिल की थी। वक्त बदला, लखनऊ का रंग बदला, लोगों की नजरें बदलीं और बदले शौक। नाच-गाने के शौकीन लोगों का काफी बड़ा भाग 'चलचित्र' खींच ले गया। जिन लोगों की रोजी-रोटी इस पेशे पर टिकी थी मजबूर हो उन्होंने गलत रास्ता अख्तियार किया, नहीं तो यह तवायफें भी शराफत की जिन्दगी जीती थीं। समाज में एक इज्जत थी।

लखनऊ में तवायफों की तीन जातियाँ थी—कंचनियाँ, चूनेवालियाँ और नागरानियाँ। कंचनियाँ जाति की तवायफें शुजाउद्दौला के वक्त में पंजाब और दिल्ली से लखनऊ आ गयी। 'कंचनियाँ' जिनका पेशा केवल सतीत्व बेचना ही होता था। 'चूनेवालियाँ' और 'नागरानियाँ' जाति की तवायफों को बड़ी इज्जत बख्शी जाती थी। चूने वाली 'हैदरी' का गला इतना मीठा था कि जब वह गाती तो लोग बेसुध हो जाया करते थे। नवाब वाजिद अली शाह के वक्त में तवायफों का लखनऊ में बड़ा जोर रहा। 'अकबरी दरवाजे' से लेकर फिरंगी महल तक तमाम तवायफें ही बसी थीं। नवाब साहब को जब लखनऊ से मटियाबुर्ज भेज दिया गया तो उनके साथ नाचने-गाने वालों, तबलचियों आदि की एक विशाल मंडली भी चली गयी। इस मंडली में 360 व्यक्ति थे इन पर 1,16,510 रुपये तनख्वाह के रूप में ही खर्च हो जाया करते थे। मुन्नी बाई, वजीरन, प्यारे खाँ, जाफर खाँ, हैदर खाँ आदि मशहूर 'गवैये' थे तो कन्हैया और अमजद खाँ जाने-माने 'कव्वाल'; कुतुबुद्दीन —'सितार वादक' थे तो विलायत अली और कोदईसिंह परवाउज 'तबलची' थे।

लखनऊ की मशहूर गाने वालियों में 'हैदरी' और 'दिलवर' की आवाज अगर दिलकश थी तो अमीरन डोमिनी की बेटी 'नजमा' को राग-रागिनियों की अदाकारी में महारत हासिल थी। इसमें कोई शक नहीं कि लखनऊ की तवायफों के कोठे तहजीब और तमीज के मदरसे थे। नवाब, रईस यहाँ तक के अंग्रेज आफीसर भी अपनी औलादों को तवायफों के कोठों पर उठने-बैठने, बातचीत करने का सलीका सीखने के लिए भेजते थे। उस समय अश्लीलता का कहीं कोई नामों निशान न था। सलाम करने, पान पेश करने का ढंग, खातिरदारी के तौर-तरीके उन्हीं कोठों से ही महलों व घरों में आये।

मैं चौक के एक बुजुर्ग नजमुल हसन से मिला उन्होंने बताया, "तवायफें जिस्म बेचने से कोसों दूर रहती थीं। किसी एक की होकर ही सारी जिन्दगी गुजार देती थी ऐसी तवायफों को 'तवायफ खानगी' कहते थे। ऐसी बात नहीं कि पेशे वाली तवायफें थीं ही नहीं हाँ इनकी भनक तक लोगों को नहीं मिलती थी।"

तवायफों की उस वक्त बड़ी इज्जत थी इसका अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब यह दावतें देतीं तो सारे शहर के शरीफ इनके कोठे पर तशरीफ लाते। तवायफों में सबसे ऊँची जाति डेरेदार तवायफों की मानी जाती थी। इनमें मुनीर बेगम, जरीना बेगम, अनवरी बेगम बड़ी मशहूर रहीं जो अच्छी गायिकाएँ भी थीं।

तवायफों के कोठे पर न कोई अमीर होता न गरीब। जब महफिल जमती तो फर्श पर खूबसूरत कालीनें और सफेद चादर बिछा दी जातीं, तकिये लग जाते। लोग मुजरे सुनते। जो बन पड़ता खामोशी से तकिये के नीचे दबा देते। मुजरा खत्म होता इलायची व पान पेश किये जाते। जब सब लोग चले जाते तब तकिये के नीचे से रुपये निकाले जाते। ऐसा इसलिए होता कि मुजरे में अमीर भी आते कम हैसियत वाले भी। कौन कितना दे रहा है यह किसी को न मालूम हो।

तवायफ, 'हुसैनाबादी' बेमिसाल गजल गायिका थी। नक्खास में उसका मशहूर इमामबाड़ा था। इसी तरह एक तवायफ थी 'उमराव जान' खुद गजलें लिखती; खुद गाती। एक से बढ़कर एक गजल लेखक व गायक उसके पास आते थे।

तवायफ 'नन्हुवाँ' और 'बचुवा' लखनऊ में ही नहीं विदेशों में मशहूर रहीं। यह दोनों तवायफें 'बड़ी चौधराइन' और 'छोटी चौधराइन' के नाम से जानी जाती थीं। चौधराइन का 500 रुपये माहवार खर्च केवल पान पर ही था। उनकी बेटी 'रश्के मुनीर' हुस्ने-ए-मलिका थी। इसकी शादी बम्बई के एक शरीफ और इज्जतदार खानदान में सेठ सुलेमान के लड़के से हुई थी।

सन् 1940 ई० में महमूदाबाद के महाराज के महल में जब मुहम्मद अहमद हसन खाँ के विवाह पर महफिलें जमीं तो लखनऊ से तमाम तवायफें बुलायी गयीं इनमें—जद्दन बाई, बेगम अख्तर, रसूलन बाई, मलिका पुखराज, वहीदन बाई मुख्य थीं। जब इस बारे में ग्रामोफोन रिकार्ड बनाने वाली एक कम्पनी को पता लगा तो वह अपनी मशीनें लादकर महाराजा महमूदाबाद के महल जा पहुँची।

लखनऊ की अन्य मशहूर तवायफों में बेनजीर, अल्लारखी, नसीम आरा, दिलरुबा, शमीम बानों, राधा, जोहरा, बड़ी जद्दन, छोटी जद्दन, माहलका, अल्लाह बाँदी, जेली खुर्बोद, कमर जहाँ, मुन्नी बाई मुख्य थीं।

1958 के बाद से सरकार ने इन्हें लखनऊ से नेस्तनाबूद करके ही दम लिया।

आप फरमाते हैं

1. **मुन्शी प्रेम चन्द**—वाजिद अली शाह का वक्त था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला कौशल में, उद्योग धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज कर्मच ि विषय वासना में—कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलावस्तु और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिश्री और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। कहीं बटेर लड़ रहे हैं, कहीं तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है और कहीं चौसर बिछी हुई है। पौ बाहर का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे।

2. **जोश मलिहाबादी**—अजीबतर नजर आये लखनऊ के रईस, आलिम, अदीब और शायर। अल्लाह-अल्लाह उनके हैं लचकीले सलाम, उनके उठने-बैठने के वे पाकीजा अन्दाज, उनके वे तहजीब में डूबे हाव-भाव, उनके लिबास की वह अनोखी तराश-खराश, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर उनका वह वाद-विवाद, उनके शब्दों का ठहराव उनके लहजों के कटाव, गज़ल सुनाते समय शेर के भाव के अनुसार उनकी आँखों का रंग और चेहरों का उतार-चढ़ाव, वह कहकहों से बचाव, उनका हक्का-बक्का तबस्सुम, विनम्रता और बावजूदे कमाल उनका हाथ जोड़-जोड़कर अपनी कम इलमी का एतराफ! ये सारी बातें देखकर मैं आश्चर्य चकित रह गया। वे तमाम लोग इस कदर सभ्य, शालीन और सुसंस्कृत थे कि ऐसा मालूम होता था—वे इस दुनिया के नहीं, किसी प्रकाश मंडल के वासी हैं। इन्हीं बुजुर्गों की जूतियाँ सीधी करके मैंने शाइस्तगी सीखी और यह जरा-सी सुध-बुध जो आज मुझे अदब और जबान पर हासिल है, यह उन्हीं को सोहबत का असर है।

अब न वह लखनऊ है न लखनऊ वाले, एक-एक कर सब चले गये—खाक के नीचे खा गयी मिट्टी उनके जौहर को।

3. **फिराक गोरखपुरी**—दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ उर्दू-कविता का केन्द्र हो गया। पहली लहर में वे ही कवि प्रमुख हुए, जो कि दिल्ली से लखनऊ तशरीफ लाये थे। उनके बाद आने वाले कवियों ने जो मूल रूप से दिल्ली या उसके आस-पास के निवासी थे—अपनी जवानी की आँखें लखनऊ में ही खोली, जहाँ के दरबार में उस समय हँसने-हँसाने और विलास-प्रियता के अलावा अन्य कोई वातावरण नहीं था। इसलिए इनके बाद कवियों में गम्भीरता के तत्त्व गायब हो गये और उच्छृंखल तथा सतही प्रेम ही की आधारभूमि पर कविता की जाने लगी। भाषा तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में इस काल में अवश्य पहले से विकास हुआ और दिल्ली के कवियों द्वारा व्यवहृत बहुत से शब्द तथा वाक्य विन्यास छोड़ दिये गये।

4. **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र**—लखनऊ का स्टेशन बड़ा ही खूबसूरत है। लखनऊ के पास पहुँचते ही मस्जिदों के ऊँचे-ऊँचे कंगूरे दूर से दिखते हैं। मस्जिदें बहुत-सी हैं।

5. **सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला**—लखनऊ में हिन्दी भाषी, धनीमानी तथा अध्यात्मान्वेषी अनेक हैं।

6. **सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'**—लोगों को रास्ता बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं। लेकिन लखनऊ का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। लखनऊ में नफासत नहीं, सो कुछ नहीं—जो मार्ग बताता बड़े इतमीनान से और आवाज में माधुर्य भरकर।

7. **पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी**—लखनऊ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। पहले दिन जब अध्यक्ष का भाषण समाप्त हो गया, तब संध्या समय लाला भगवानदीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामचन्द्र वर्मा आदि अमीनाबाद घूमने निकले। घूमते-घूमते ये लोग एक चाट की दुकान के करीब पहुँचे और पटरी पर ही लोहे की कुर्सियों पर बैठकर चाट खाने लगे। एकाएक इन लोगों की निगाहें जो उठीं, तो देखा कि तीन युवतियाँ बरामदे में खड़ी सड़क की ओर देख रही हैं। चाट खाते-खाते इन लोगों की नजर बार-बार ऊपर भी चली जाती थी। जब वर्मा जी ने दाम पूछा, तो दुकानदार ने कहा—'साढ़े चार रुपये'। वर्मा जी ने शुक्ल जी की ओर देखा। सब लोग आश्चर्य में थे कि इतना दाम कैसे हो गया। दुकानदार के कुछ कहने से पहले ही शुक्ल जी ने ऊपर संकेत करते हुए कहा—"अरे भाई, इसमें शरबते दीदार का भी तो दाम है।" हँसते हुए वर्मा जी ने साढ़े चार रुपये दुकानदार के हवाले कर दिए। पतंगबाजी, बटेरबाजी आदि शौक एक नये और मौलिक रूप में विकसित हुए हैं। लखनऊ की सारी संस्कृति ही नक्काशी की संस्कृति रही है। वैसे यह नगर शानदार किस्म की छोटी-छोटी इमारतों का नगर रहा है।

हर जगह बाग और हरियाली !विशेषता यह कि यहाँ का आदमी अत्यन्त शिष्ट और नेक दिल।

8. **विलियम हार्वर्ड रसेल**—देखो ! देखो !! महलों, मीनारों, सुनहरे लाजवर्दी गुम्बदों छतों के लखनऊ में कोई चीज ऐसी नजर नहीं आ रही है, जो भद्दी हो या बेमेल हो। कितना सुडौल ! मुझे तो लगता है कि लखनऊ पेरिस से भी ज्यादा खूबसूरत है ! मैं तो जितना भी इस शहर को देखता हूँ, उतनी ही इसकी सुन्दरता बढ़ती जाती है।

9. **सरदार पटेल**—लखनऊ हमारे मुल्क का एक बहुत पुराना शहर है। यह हिन्दू और मुसलमान दोनों की मिश्रित संस्कृति का एक केन्द्र स्थान है। इस शहर की पुरानी बातें हम सदा सुनते रहते हैं। लखनऊ की पुरानी निशानियों को देखकर हम मगरूर भी होते हैं। पिछली आजादी की लड़ाई में इस शहर का जो हिस्सा है—जो इतिहास है, वह देखकर भी हम मगरूर होते हैं।

10. **महात्मा गांधी**—लखनऊ अपनी आराम तलबी के लिए मशहूर है। इस्लाम में जो कुछ भी उत्कृष्ट और महान है, वह सब लखनऊ में है। हिन्दुओं के लिए तो लखनऊ, उस प्रान्त का एक सदर मुकाम है, जो सीता और राम की पुण्य-भूमि थी। यह हिन्दुओं की पवित्रता, उदारता, शौर्य और सत्यपरायणता के श्रेष्ठ युग की याद दिलाता है।

11. **शिवानी**—कभी लखनऊ में मेरी ननिहाल थी। ननिहाल की स्मृतियाँ शैशव की सबसे प्रखर स्मृतियाँ होती हैं। इसी से इतने सालों में भी मैं लखनऊ के उस उच्चारण को अभी तक नहीं भूल पाई हूँ। 'लखनऊ'। उसी रूप की विस्तृत छटा देखने को अब भी कभी-कभी आँखें तरस उठती हैं। महाबली अपने माँसल कंठ से कुल्फी नमे ऽऽऽ श, की हाँक क्या लगाता कि हमारे नन्हें जीवन में बहार आ जाती। जिह्वा पर उस दिव्य खाद्य-पदार्थ का हिम शीतल स्पर्श, मिट्टी के दियों की सौंधी महक और 'पहले हमें—पहले हमें' की हमारी नादान रुठीली फरमाइश ! कब्र वाली दुकान तब भी थी और अब भी है। अमीनाबादी नुक्कड़ पर उन दिनों एक चाट वाले की भी विशेष ख्याति थी। लखनऊ के अनेक चाटपारखी-जिह्वाओं पर अब भी निश्चय ही उसकी बहुचर्चित 'मटर की चाट' की स्मृति जीवन्त होगी।

12. **भगवतीचरण वर्मा**—शायद ही कोई ऐसा अभागा हो, जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो। युक्त प्रान्त ही में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में और मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ का सफेदा आम, लखनऊ के खरबूजे और लखनऊ की रेवड़ियाँ—ये सब चीजें हैं, जिन्हें लखनऊ के लौटते समय लोग सौगात के तौर पर साथ ले जाया करते थे। लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं, जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं उनमें लखनऊ की जिन्दा-दिली और लखनऊ की नफासत विशेष है। साहित्य, संगीत, नृत्य आदि कलाओं ने

लखनऊ में अपना एक मौलिक स्थान बना लिया, जो अभूतपूर्व है। यहाँ की जर-दोजी और चिकन का काम, यहाँ के खिलौनों की कला, यहाँ के इत्र और न जाने कितनी चीजें भारतवर्ष के बाजारों में छा गयी थीं।

13. **पं० कमलापति त्रिपाठी**—लखनऊ न केवल उत्तर प्रदेश की राजधानी होने के कारण विख्यात है, अपितु इसकी अपनी एक विशेष संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और इतिहास है। इसने देश की राजनीति, सामाजिक दृष्टिकोण और कला कौशल को प्रभावित किया है।

14. **स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी**—1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में लखनऊ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, राष्ट्रीय पुनरुत्थान की दृष्टि से लखनऊ संस्कृति, शिष्टता और वीरता का प्रतीक बन गया है।

15. **अमृतलाल नागर**—लखनऊ अवध की जिस पावन भूमि पर बसा है, वह एक समय में हिन्द का बाग कहा जाता था। 'आइने-अकबरी' में अबुल फजल ने यहाँ की प्राकृतिक शोभा और सम्पदा का बखान बड़े मुग्ध भाव से किया है। एक समय लखनऊ ने हमारी उर्दू शैली के अदबी गढ़ के रूप में चमत्कारी ख्याति अर्जित की थी। उस समय उर्दू के तेज के आगे हिन्दी के वास्तविक रूप को अपना सिर छिपाने तक की जगह नहीं मिल पाती थी। भला हो इशाअल्लाह खाँ का, जो 'हिन्दी छूट-अरबी-फारसी का न पुट' शैली में 'रानी केतकी की कहानी' इसी लखनऊ की सरजमीं पर रच गये। इस रचना के कारण ही लखनऊ को आधुनिक हिन्दी गद्य की जन्मभूमि कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ।

सहायक पुस्तकों की सूची

1. Dacoities in excelsis or Spolleation of Oude —Major Bird
2. Journey through the Kingdom of Oude —Major Gensir W. H. Steeman (K. C. B.)
3. The Lucknow Album (1894)—Darogha Ubbas Ali
4. वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन —परिपूर्णानन्द वर्मा
5. फसानये इबरत — रजब अली बेग सरुर
6. गदर के फूल —अमृतलाल नागर
7. सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति —डॉ० राम बिलास शर्मा
8. लखनऊ जनपद का राष्ट्रीय इतिहास —तबस्सुम निजामी 'भारतीय'
9. शाहे अवध —इकबाल बहादुर देवसरे
10. गुजिश्ता लखनऊ —अब्दुल हलीम 'शरर'
11. बेगमाते अवध के खुतूत —श्री इन्तजाम उल्ला शहाबी
12. Begums of Awadh —K. Srinivas Santha
13. लखनऊ —बसन्त कुमार वर्मा
14. अवध की लूट (अनुवादित पुस्तक) —श्री राजेन्द्र पाण्डेय
15. अवध के गदर का इतिहास —पं० देवीदत्त शुक्ला
16. तारीखे लखनऊ —मौलवी आगा मेंहदी
17. Universities Hand Book India—1979 —Association of Indian Universities, Deendayal Upadhyaya Marg New Delhi-110002
18. Isabella College —Marjorie A. Dimmitt.
19. लखनऊ गजेटियर —उ० प्र० सरकार

□□